दिव्य जीवन का विषय सूची ।

आर्य-जीवन (उत्तरार्ध)

❀ आर्यों का दिव्य जीवन ❀

पूर्वार्ध में आर्यों के लौकिक जीवन का वर्णन हो चुका। अब उत्तरार्ध में आर्यों के दिव्य जीवन का वर्णन होगा।

दिव्य जीवन का मुख्य और अवान्तर फल — दिव्य जीवन जैसा कि पूर्व कहा गया है, लौकिक जीवन पर भी अपना उत्तम प्रभाव डालता है। दिव्य जीवन से लौकिक और दिव्य दोनों प्रकार के फल प्राप्त होते हैं, इसलिए दिव्य जीवन के वर्णन में लौकिक फलों का भी साथ २ वर्णन आएगा, पर यह स्मरण रखना चाहिये, कि दिव्य जीवन का मुख्य फल आत्मा की उन्नति है, और लौकिक उन्नति उसका आनुषंगिक फल है। सो दिव्य जीवन का धारने वाला पुरुष इस लोक और परलोक दोनों में सुख भोगता है। पर उसकी इस प्रवृत्ति का लक्ष्य लौकिक उन्नति नहीं, आत्मोन्नति ही होती है, जैसा कि कहा है—

नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य धर्माश्चरेत् ॥ १ ॥

निष्फला ह्यभ्युदये भवन्ति ॥ २ ॥

तद्यथाम्रेफलार्थे निमिते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते ॥ ३ ॥

नो चेदनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति ।४। (आपस्तम्ब धर्म सूत्र प्रश्न १ पटल ७ सूत्र १-१४)

धर्माचरण किसी लौकिक अर्थ को लक्ष्य में रख कर न करे ॥ १ ॥ क्योंकि ऐसे धर्म परलोक में निष्फल होते हैं ॥ २॥ जैसा कि आम का वृक्ष फल के लिए लगाया जाता है, (न कि छाया और गन्ध के लिए) पर छाया और गन्ध मुफ्त में मिल जाती हैं। इसी प्रकार धर्म पर चलने से (लौकिक) अर्थ मुफ्त में मिल जाते हैं ॥ ३ ॥ और यदि न भी मिलें, तौ भी धर्म की हानि नहीं होती (धर्म स्वयं एक उच्च फल है, और दिव्य फलों का उत्पादक है, लौकिक फल उसके सामने तुच्छ हैं । आम लगानेवाले भी बहुतेरे लोग फल के भागी ही होते हैं, छाया गन्ध दूसरे लूटते हैं, वा छाया गन्ध औरों के साथ उनके सांझे होते हैं)

दिव्य जीवन के तीन अङ्ग } पूर्व कह आए हैं, कि दिव्य जीवन के तीन अङ्ग हैं, कर्म, उपासना और ज्ञान । अब क्रमशः इन तीनों का वर्णन करेंगे।

कर्म-काण्ड।

श्रद्धा—धर्म कार्यों के पूरा करने के लिये श्रद्धा बड़ा भारी बल है। श्रद्धा वह आत्मबल है, जिससे दुष्कर सुकर और दुर्लभ सुलभ हो जाता है। श्रद्धा ही है, जो मनुष्य को कभी गिरने नहीं देती। देखो वह कौनसा आत्मबल है? जो अपनी युवति और रूपवती भी भगिनी के पास भ्राता के मन में कोई विकार उत्पन्न होने नहीं देता। यह धर्म पर श्रद्धा है। जिस के हृदय में यह परिपूर्ण है, उस के लिए केवल एक अपनी पत्नी को

छोड सारा ही नारी जगत मातृवत, स्वसृवत और दुहितृवत हो जाता है। यदि यह श्रद्धा का सूक्ष्म तन्तु टूट जाए, तो फिर स्वस्त्री और पर स्त्री में क्या भेद है। जिस की श्रद्धा जाती रही, वह मन को ऐसा ही समझौता दे लेता है, और गिर जाता है। पर जिस की श्रद्धा टिकी है, उसका धर्म टिका रहता है। फिर यह श्रद्धा ही है, जो मनुष्य को बड़े २ कठिन व्रत धारण करने और निभाने का उत्साह और साहस देती है। और श्रद्धावान् पुरुष अनेक विघ्न बाधाओं को चीरता हुआ अपने लक्ष्य पर पहुंच कर ही रहता है। धर्म पर सच्ची और पूर्ण श्रद्धा ही पुरुष को महापुरुष बनाती है, और वही इसको परमात्मा से मिलाती है, सो दिव्य जीवन पाने का मूल मन्त्र यह है, कि हर एक धर्म कार्य को श्रद्धा से भरे हुए हृदय के साथ करो, तभी वह कर्म अपना पूरा फल दिखलायगा—

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १५१ इसका छन्द अनुष्टुप्, देवता श्रद्धा, काम गोत्र में उत्पन्न हुई श्रद्धा ऋषिका है।

श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥ १ ॥

श्रद्धा से अग्नि प्रदीप्त की जाती है, श्रद्धा से हवि होमी जाती है। हम अपने वचन से यह घोषणा देते हैं, कि श्रद्धा ऐश्वर्य और सुख की चोटी पर रहती है।

यज्ञ के दो फल हैं, आधिभौतिक (वृष्टि आदि) और आध्यात्मिक (हृदय की शुद्धि और आनन्द आदि) इन दोनों में भी मुख्य फल आध्यात्मिक ही है। वह, जो श्रद्धावान् हो

कर यज्ञ करता है, वह तो इन दोनों ही फलों का भागी होता है, और जो श्रद्धा से हीन हो कर करता है, वह केवल आधिभौतिक फल का ही भागी होता है । श्रद्धा ही मनुष्य को सुख की चोटी पर पहुंचाती है, श्रद्धा हीन पुरुष का कर्म निरा प्राकृत सुख का ही जनक होता है ।

प्रियंश्रद्धे ददतः प्रियंश्रद्धे दिदासतः । प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि । २ ।

हे श्रद्धे ! देने वाले की भलाई हो, देना चाहते हुए की भलाई हो । उदार हृदय यजमानों में भलाई सदा बनी रहे, हे श्रद्धे ! मेरे इस वचन को पूर्ण कर । २ ।

दान देने वाला तो फलभागी होता ही है, पर श्रद्धा का यह माहात्म्य है. कि देना चाहता हुआ भी फलभागी होता है, यदि वह अकिञ्चन होने से न भी दे सके। परमात्मा हृदय के भाव को देखते हैं, धन के परिमाण को नहीं । अतएव जो समर्थ वदान्य और श्रद्धावान् हैं, उनके लिए भलाई चारों ओर से आती है।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धा मुग्रेषु चक्रिरे । एवं भोजेषु यज्वस्वस्माक मुदितं कृधि । ३ ।

जैसे पूर्व ऋत्विजों ने जीवन देने वाले तेजस्वियों (द्यौ वरुण आदि) में श्रद्धा की है (श्रद्धा बल से फल प्राप्त किया है) इसी प्रकार हमारे उदार हृदय याज्ञिकों के विषय में मेरे कहे हुए (आशीर्वचन) को पूरा कर (=इन में भी अपना बल दिखला)

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धां हृदय्य्याऽऽकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु । ४ ।

देवता (ऋत्विज्) और यजमान जिन का वायु रक्षक है श्रद्धा का सेवन करते हैं । श्रद्धा को मनुष्य हार्दिक इच्छा से पाता है, और श्रद्धा से ऐश्वर्य (कर्म फल) को पाता है ।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः । ५ ।

श्रद्धा को हम प्रातःकाल, श्रद्धा को मध्यान्ह के समय, श्रद्धा को सायंकाल बुलाते रहेंगे, हे श्रद्धे! हमें इस लोक में सदा श्रद्धा वाला बनाए रख । तथा—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दीक्षणाम् । दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते (यजु० १९ । ३०)

व्रत से दीक्षा को प्राप्त होता है, दीक्षा से दक्षिणा को प्राप्त होता है, दक्षिणा से श्रद्धा को प्राप्त होता है श्रद्धा से सत्य को प्राप्त होता है ।

मैं सत्य ही बोलूंगा, मिथ्या कभी नहीं, इत्यादि व्रत धारण करने से मनुष्य दीक्षा-दिव्य जीवन में प्रवेश संस्कार-को प्राप्त होता है, दीक्षा से दक्षिणा-फल-व्रत धारने का आन्तरिक फल हृदय शुद्धि और आत्मबल मिलता है । वह फल श्रद्धा को दृढ़ करता और बढाता है, और श्रद्धा सचाई पर पहुंचा देती है, और सत्य ब्रह्म से मिला देती है ।

उपनिषद् का उपदेश } तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद, यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च, यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति (छान्दो० १।१।१०)

उस (ओम्) से कर्म तो दोनों ही करते हैं, एक वह जो ओम के रहस्यार्थ को जानता है, और दूसरा वह, जो नहीं जानता है, पर जानने न जानने में बड़ा भेद है, वह कर्म, जिस को पुरुष विद्या श्रद्धा और उपनिषद् से (उपासना, श्रद्धा और रहस्य ज्ञान के साथ) पूरा करता है, वही अधिक शक्ति वाला होता है ।

गीता का उपदेश } श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति (गीता० ४।३९ ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः । ४० ।

श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को पा लेता है, जब कि वह इन्द्रियों को वश में रख तत्पर हो कर लग जाता है । और ज्ञान को पाकर शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त होता है । ३९ । और वह मूढ, जो श्रद्धा से हीन है, संशयात्मा (डांवांडोल मन वाला) है, वह नष्ट हो जाता है । संशयात्मा का न यह लोक है, न परलोक है, न उसको कोई सुख है । ४० । दुविधा में दोनों गए माया मिली न राम ॥

इस प्रकार श्रद्धा प्रत्येक धर्म का अङ्ग है । इसके विना धर्म नीरस है ।

स्वाध्याय } स्वाध्याय यह है, कि शुद्ध हो कर प्रति दिन वेद का पाठ किया करो, जैसा कि पूर्व आर्य किया करते

थे। पूर्व आर्यों की नाईं स्वाध्याय करने के लिए इस रहस्य का जानना आवश्यक है, कि स्वाध्याय इस भावना से करो, कि मानों तुम उस से अपनी ऐहिक और पारलौकिक यात्रा का सच्चा मार्ग पूछ रहे हो। यह भावना तुम्हें अवश्यमेव सच्चा मार्ग दिखलाएगी, और उस पर चलने के लिए दृढ़ करेगी।

अपहतपाप्मा स्वाध्यायो देव पवित्रं वा एतद्, तं योऽनुत्सृजत्यभागो वाचि भवत्यभागो नाकेतदेषाऽभ्युक्ता (तै० आ० २)

स्वाध्याय पाप से बचाने वाला है, यह परमात्मा की दी हुई एक पवित्र वस्तु है, इसको जो कोई त्यागता है, वह वाक् (ईश्वरीय वाक्) में अभागी हो जाता है और मोक्ष में अभागी होता है। इस विषय में यह ऋचा है—

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् (ऋग् १०।७१।६)

जिसने साथी को पहचानने वाले (साथी का सदा हित चाहने वाले) अपने सच्चे साथी (वेद) का त्याग कर दिया, उसका भी इस (ऐश्वरी-) वाक् में कोई भाग नहीं रहता। वह जो कुछ सुनता है, व्यर्थ सुनता है, क्योंकि वह पुण्य के मार्ग को नहीं जान पाता है॥

परलोक में फल देने वाला ईश्वर ही परलोक में फलने वाले पुण्य कर्मों को जानता है। अतएव उसने स्वयं वेद द्वारा पुण्य कर्मों का उपदेश दिया है, अब हमारा कर्तव्य यह है, कि उससे हम पुण्य का मार्ग जानें, यदि हम वेद को त्यागेंगे, तो

पुण्य का मार्ग नहीं जान पाएंगे। अतएव धर्म के सरल सीधे मार्ग को जानने और उसी पर चलते रहने के लिए वेद का नित्य स्वाध्याय करते रहो।

शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय का सविस्तर फल।

स्वाध्याय का सविस्तर फल शतपथ ब्राह्मण में इस तरह वर्णन किया है—

अथातः स्वाध्याय प्रशंसा। प्रिये स्वाध्यायप्रवचने भवतो युक्तमना भवत्यपराधीनोऽहर हरर्थान् साधयते सुखᳪ स्वपिति परमचिकित्सक आत्मनो भवतीन्द्रिय संयमश्चैकारामता च प्रज्ञा-वृद्धिर्यशो लोकपक्तिः (शत०ब्रा० ११। ५। ७। १)

अब इसके आगे स्वाध्याय की प्रशंसा है। स्वाध्याय (स्वयं वेद का पढ़ना) और प्रवचन (पढ़ाना वा प्रचार करना)* ये दोनों (ऋषियों के) प्यारे कर्म हैं। (स्वाध्याय शील पुरुष) एकाग्रमन हो जाता है, (उसका मन चञ्चल नहीं रहता), पराधीन नहीं होता है, दिन प्रति दिन अपने प्रयोजनों को साधता है, सुख से सोता है, अपने आप का परम चिकित्सक बन जाता है † इन्द्रियों का संयम, सदा एकरस रहना, ज्ञान की वृद्धि,

---

* वेद का पाठ और पाठन दोनों ब्रह्म यज्ञ हैं। अतएव यहां स्वाध्याय की प्रशंसा का आरम्भ करके स्वाध्याय और प्रवचन दोनों कहे हैं। भगवान् मनु ने भी स्पष्ट कहा है। अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः=पढाना ब्रह्मयज्ञ है (मनु ३। ७०)

† नित्य स्वाध्यायी के मन में प्रथम तो दम्भ, कपट, ईर्ष्या असूया आदि रोग उत्पन्न ही नहीं होते, और यदि कथञ्चित् हों भी, तो वह उनकी आप ही पूरी चिकित्सा कर लेता है और शुद्ध आचार व्यवहार रहन सहन से शारीरिक रोग भी उत्पन्न नहीं होते।

यश; और लोगों को सुधारने और निपुण करने का काम, ये सब फल स्वाध्याय और प्रवचन करने वाले को मिलते हैं)

ब्राह्मण के लिए स्वाध्याय का विशेष फल } ब्राह्मण स्वाध्याय भी करता है, और प्रवचन भी करता है, अतएव ब्राह्मण के लिए स्वाध्याय का फल अधिक कहा है—

प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मणमभि निष्पादयति ब्राह्मण्यं प्रतिरूपचर्यां, यशो, लोकपक्तिम् । लोकः पच्यमानश्चतुर्भिर्धर्मै-र्ब्राह्मणं भुनक्त्यर्चया दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च (श० ब्रा० ११।५।७।१)

(स्वाध्याय का फल प्रज्ञा वृद्धि कहा है, सो) प्रज्ञा जब बढ़ती है, तो वह ब्राह्मण में चार धर्मों को उत्पन्न कर देती है ब्राह्मणत्व (ब्राह्मणपन अर्थात् वह सच्चा ब्राह्मण बन जाता है) यथोचित आचार व्यवहार, यश, और लोगों का सुधार। इस सुधार के पलटे में ये चार धर्म दूसरे लोगों के ब्राह्मण की ओर हो जाते हैं, उसका आदर सत्कार करें, दान देकर उसको आजीविका से निश्चिन्त रक्खें, उस पर अत्याचार (जुल्म) न होने दें, और उस को अवध्य समझें।

स्वाध्याय सब से बड़ा परिश्रम है } ये ह वै के च श्रमा इमे द्यावा पृथिवी अन्तरेण, स्वाध्यायो हैव तेषां परमाकाष्ठा, य एवं विद्वान् स्वाध्याय मधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (श० ब्रा० ११।५।७।२)

इस द्यौ और पृथिवी के अन्दर जितने प्रकार के परिश्रम हैं, स्वाध्याय ही इन सब की परम काष्ठा है, उस के लिए, जो

ठीक २ जानता हुआ स्वाध्याय करता है, इसलिए स्वाध्याय नियम से करना चाहिये ।

यावन्तं ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णां ददल्लोकं जयति, त्रिस्तावन्तं जयति भूयांसं चाऽक्षय्यं, य एवं विद्वानहरहः स्वाध्याय मधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (श० ब्रा० ११।५।८।३)

मनुष्य इस सारी पृथिवी को धन से भर कर देता हुआ जिस फल को भोगता है, इससे तिगुने फल को, अथवा उससे बड़े, अथवा अक्षय फल को वह भोगता है, जो ठीक २ जानता हुआ प्रति दिन स्वाध्याय करता है, इसलिये स्वाध्याय नियम से करना चाहिये ।

स्वाध्याय मनुष्य के जीवन को उच्च से उच्च बना देता है, इसलिये स्वाध्याय का फल बहुत बड़ा कहा है । और ऊपर जो फल में अथवा अथवा कह कर भेद किया है, वह अधिकारि-भेद से है । जितना २ जिस के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ता है, उतना २ वह उच्च, उच्चतर और उच्चतम जीवन को पाकर बड़े से बड़े फल को भोगता है । यहां तक कि एक उत्तम अधिकारी स्वाध्याय द्वारा परमात्मा में युक्त हो कर उसके साक्षात् दर्शन पालेता है, जैसा कि कहा है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याय योगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते(योग१।२८पर व्यास भा०

स्वाध्याय के अनन्तर योग में लगे, योग के अनन्तर स्वाध्याय का अभ्यास करे । स्वाध्याय और योग की सिद्धि से परमात्मा प्रकाशित होता है ।

स्वाध्याय की विधि } शुद्ध पवित्र हो कर शुद्ध पवित्र एकान्त स्थान में आसन लगाकर स्वाध्याय करना चाहिये। पर यह कभी न भूलना चाहिये, कि, मुख्य कर्म स्वाध्याय है, स्थान आदि सब गौण हैं। चाहे किसी तरह करो, स्वाध्याय अवश्य करो, जैसा कि शतपथ में कहा है—

यदि हवा अप्यभ्यक्तोऽलंकृतः सुहितः सुखेशयने शयानः स्वाध्यायमधीते, आहैव स नखाग्रेभ्यस्तप्यते, य एवं विद्वान् स्वाध्याय मधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (११।२।७।४

यदि मनुष्य सुगन्ध लगाए हुए, भूषण पहने हुए, (भोजन मे) तृप्त हो कर नर्म बिछौने पर लेटा हुआ भी स्वाध्याय करता है, तौ भी वह नख के अग्रतक तप तप रहा है, जो ठीक २ जानता हुआ स्वाध्याय करता है, इसलिये स्वाध्याय नियम से करना चाहिये।

स्वाध्याय में कभी व्यवधान न आने दो।

यन्ति वा आपः। एत्यादित्य एति चन्द्रमा यन्ति नक्षत्राणि। यथा हवा एता देवता नेयुर्नकुर्युरेवं हैवे तदहर्ब्राह्मणो भवतियदहः स्वाध्यायं नाधीते, तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, तस्मादप्यृचं वा यजुर्वा साम वा गाथां वा कुंव्यां वाऽभिव्याहरेत् व्रतस्याव्यवच्छेदाय (श० ब्रा० ११। ५। ७। १०).

जल चलते हैं, सूर्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं। जैसे ये देवता न चलें, अपना काम न करें, ऐसे ही उस दिन वह ब्राह्मण होता है, जिस दिन वह स्वाध्याय नहीं करता है, इसलिए स्वाध्याय नियम से करना चाहिये। सो चाहे एक भी ऋचा वा यजु वा साम वा गाथा वा कुंव्या (अर्थात् ब्राह्मण के विधि वाक्य वा अर्थवाद वाक्य) का ही पाठ कर

लेवे, (पर करे अवश्य) अपने व्रत को कभी न टूटने दे।

इस प्रकार स्वाध्याय दिव्य जीवन का एक बड़ा भारी अङ्ग है, जो कि आर्य जाति की विद्या, सभ्यता और धार्मिक उन्नति का बड़ा भारी साधन बना रहा है।

यज्ञ ।

यज्ञ का फलादि) यज्ञ आर्य-जाति का वह विशेष धर्म है, जो इसे दूसरी जातियों से विशेषित करता है। यज्ञ इन सब बातों की व्याख्या है, कि आर्यों ने अपने परमात्मा को किस रूप में देखा, उस की पूजा क्या समझी और उस का फल क्या समझा।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः (ऋ० १ । १६४ । ५० ; १० । ९० । १६)

देवताओं ने यज्ञ से प्रजापति की पूजा की, ये (यज्ञ) सनातन धर्म हैं। वे (देवता) महिमा वाले बन कर स्वर्ग को प्राप्त हुए, जहां उन से पहले के साधक देवता विद्यमान हैं।

इस से ये बातें सिद्ध होती हैं—(१) यज्ञ प्रजापति की पूजा है (२) यज्ञ सनातन धर्म है (३) यज्ञ का फल स्वर्ग है (४) सृष्टि प्रवाह से नित्य है—क्योंकि इस कल्प के आदि देवताओं से पहले भी देवता=यजमान थे (५) धर्म नियम अटल हैं, इस कल्प में वे ही धर्म हैं, जो पूर्व कल्प में थे, और वे ही उन के फल हैं, जो पूर्व कल्प में थे।

यह स्मरण रखना चाहिये, कि इस मन्त्र में प्रजापति को भी यज्ञ नाम से पुकारा है।

यज्ञ क्या है } पहला यज्ञ तो सृष्टि वा सृष्टि की रचना है। यह यज्ञ स्वयं प्रजापति करता है—

योे यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः । इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयापवयेत्यासते तते (ऋग्० १० । १३० । १)

जो यज्ञ (रूपी वस्त्र) चारों ओर से तागों (एक दूसरे को सम्बद्ध रखने वाले द्रव्यों) से तना हुआ है, और एक सौ एक दिव्य शक्तियों से बुना हुआ है। ये पितर (रचने वाली शक्तियां) इस को बुन रहे हैं; जो (यहां) आगए हैं,जो मानों 'बुनो उधेड़ो' कहते हुए विस्तृत (पट) पर बैठे हैं।

इस में इस दृश्यसृष्टि और सृष्टि रचना को यज्ञ कहा है, और वस्त्र के रूपक से इस के अवयवों का वस्त्र के तागों की तरह मेल दिखलाया है। एक सौ एक से अभिप्राय अनेक हो सकता है, पर अधिक सम्भव है, कि एक सौ एक तत्त्व हों,जो अभी तक ज्ञात नहीं हुए।

'जो यहां आगए हैं' इस से यह स्पष्ट कर दिया है, कि प्रकृति का भंडार अनन्त है, उस में से जो शक्तियां यहां आई हैं, वे यहां काम कर रही हैं, शेष अन्यत्र काम कर रही हैं, वा प्रकृति रूप में स्थित हैं।

इस विश्व में केवल रचना ही नहीं हो रही, किन्तु उधेड़ बुन लगी हुई है, कहीं सृष्टि कहीं प्रलय, तथा कभी सृष्टि कभी विनाश। पानी की भाप, और भाप का फिर पानी।

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान् वितत्ने

अधिनाके अस्मिन् । इमे मयूखा उपसेदुरु सदः सामानि चक्रुस्तसरण्योतवे । २ ।

पुरुष (प्रजापति) इस (यज्ञरूपी वस्त्र) को फैलाता है, और लपेटता है, पुरुष ने इस को इस लोक में फैलाया है, जो यह स्वर्ग है (यहां के किये कर्मों का फल रूप है)। ये किरणें (सृष्टि नियम) इस देवयजन में बैठे हैं, जिन्होंने बुनने के लिये साम मन्त्रों को नलियें बनाया है।

इस प्रकार पहला यज्ञ स्वयं प्रजापति ने रचाया।

सप्रजापतिर्यज्ञ मतनुत, तमाहरत, तेनायजत (ऐत० ब्रा० ५।१२)

उस प्रजापति ने यज्ञ को फैलाया, उस को लेआया, और उस से यजन किया।

प्रजापति कौन है? } प्रजापति परमात्मा है, जिस की हम सब प्रजा हैं। पर उसने अपने आत्मस्वरूप से प्रजाओं को नहीं रचा, किन्तु पुरुष बनकर अर्थात् इस विराट् देह में प्रवेश करके इस विराट् को अपना शरीर स्थानी बना कर प्रजाओं को रचा है। इसीलिये उसे पुरुष कहा है. सो वैदिक प्रजापति इस सृष्टि के किसी ऊपर के लोक में बैठकर सृष्टि नहीं रच रहा, किन्तु इस विराट् शरीर में आत्मरूप से बैठा हुआ इस अपने शरीर-भूत विराट् से सृष्टि रच रहा है। अतएव इसी विशिष्ट रूप में वह प्रजापति वा पुरुष कहलाता है, और विराट् शरीरी होने से विराट् भी कहलाता है। इसी का वर्णन ऋग्वेद १०।९० में

"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद" इत्यादि से किया है। जहां उस विराट् शरीर की अङ्ग कल्पना इस प्रकार की गई है—

चन्द्रमा मनसोजातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत। १३।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् १४। (ऋग् १०। ९०)

(प्रजापति के) मन से चन्द्र उत्पन्न हुआ, नेत्र से सूर्य, मुख से इन्द्र और अग्नि और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। १३। (जैसे उस के अङ्गों में देवताओं की कल्पना है) वैसे लोकों की (उस के अङ्गों में) इस प्रकार कल्पना करते हैं। उसकी नाभि से अन्तरिक्ष हुआ, सिर से द्यौ, पाओं से भूमि और श्रोत्र से दिशाएं उत्पन्न हुई। १४।

इस सूक्त में प्रजापति के यज्ञ का भी इस प्रकार वर्णन किया है—

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः(ऋ.१०।९०।६)

जब विराट् रूपी हवि से देवताओं ने यज्ञ को फैलाया, तब वसन्त ऋतु इस का आज्य, ग्रीष्म ऋतु ईंधन, और शरद ऋतु हवि बना।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। ७।

आदि में उत्पन्न हुए उस विराट् पुरुष को देवताओं ने आकाश में प्रोक्षण किया, और उस से साध्य देवताओं और ऋषियों ने यज्ञ किया।

जिस यज्ञ का वसन्त आज्य, ग्रीष्म इन्धन और शरद हवि है। उस के हव्य (पदार्थ) का प्रोक्षण आकाश में वृष्टि द्वारा बन सकता है।

अथर्ववेद के पाठान्तर से भी यही आशय निकलता है—तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् (अथर्व १९।६।११) उस यज्ञ को देवताओं ने बरसात से सेचन किया। इसीलिए यहां बर्हिस् से अन्तरिक्ष अभिमत है, जो इस दिव्य यज्ञ का मानों कुशा स्थानी है। इस यज्ञ से यजन करने वाले जो साध्य देव और ऋषि हैं, ये भी दिव्य शक्तियां हैं।

प्रजापति के यज्ञ का फल — प्रजापति के इस यज्ञ का फल स्वाभाविक रूप में प्रजाओं की उत्पत्ति है, जैसा कि कहा है—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्। पशूस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्चये। ८।

उस सर्वहुत (जो सब देवताओं ने मिलकर किया) यज्ञ से दही और आज्य उत्पन्न हुआ, (भोग्य पदार्थ उत्पन्न हुए) और वे पशु उत्पन्न हुए जो जंगली और पालित हैं, तथा वायु के पक्षी उत्पन्न हुए। ८।

इस से इतनी बातें सिद्ध हुई। (१) यह विराट् जगत् सृष्टि की उत्पत्ति और पालन के लिए जो कर्म कर रहा है, यह एक यज्ञ है। (२) इस यज्ञ का कर्ता साक्षात् प्रजापति है। (३) प्रजापति परमात्मा को उस विराट् रूप में कहा गया है, जब कि वह इस विराट् का अन्तरात्मा हो कर इस से प्रजाएं रचता है। इस रूप में मानों यह विराट् उस का शरीर है, विराट् के अङ्ग उस के अङ्ग हैं। (४) प्रजापति के इस यज्ञ का फल प्रजाओं की उत्पत्ति है।

अब इस यज्ञ का—जैसा कि हम आगे दिखलाएंगे—हमारे यज्ञ से यह सम्बन्ध है। कि हम इसी प्रजापति की प्रजा हैं, अतएव हमारा पूज्य यही प्रजापति है, सो हम उस के यज्ञ की अनुकृति करते हुए यज्ञ से ही उसकी पूजा करते हैं। हमारा पूज्यदेव वही प्रजापति है क्योंकि 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' इस प्रश्न के उत्तर में जिस देवता का वर्णन है, उसी का नाम लेकर अन्त में कहा है—

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् (ऋग्० १० । १२१ । १०)

हे प्रजापते ! तुझ से भिन्न और कोई इन सारी प्रजाओं पर शासन नहीं कर रहा है। हम जिस कामना से तेरे लिए होमते हैं, वह हमारी पूर्ण हो, हम नाना ऐश्वर्यों के स्वामी बनें।

सो हमारा यजनीयदेव एक प्रजापति ही है। अब जिस विशिष्ट

रूप में उसको प्रजापति कहा है, उस रूप में द्यौ उसका सिर,सूर्य नेत्र, और पृथिवी पाओं है, इत्यादि रूपक से सारी दिव्य शक्तियों में उसी की शक्ति और उसी की महिमा दिखलाई है। अतएव ये(द्यौआदि भी याज्ञिय देवता हैं। पर ये प्रजापति से भिन्ननहीं। वही जो समष्टि रूप में प्रजापति है, वही व्यष्टि रूपों में सूर्य वायु आदि नाम से पुकारा गया है। अर्थात एक ही परमात्मा को समष्टि जगत के अधिपति के रूप में प्रजापति कहा है, और उसी को भिन्न २ व्यष्टियों के अधिपति रूप में मित्र वरुण इन्द्र आदि कहा है। जो स्थूल दृष्टियों को भिन्न २ देवता जान पड़ते हैं, वही तत्त्ववेत्ताओं को भिन्न २ रूपों में एक का ही वर्णन जान पड़ता है।

माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते।

एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति (निरु० ७।४)

प्रजापति का ऐश्वर्य बड़ा है, इसलिये इस एक ही आत्मा की इस प्रकार स्तुति की गई है, जैसे कि ये बहुत से हैं। एक ही देव है, दूसरे सारे देवता उसी एक आत्मा के अलग २ अङ्ग हैं।

तद्यदिदमाहुरमुंयजामुंयजेत्ये कैकं देव मेतस्यैव सा विसृष्टि-रेष उह्येव सर्वे देवाः (बृह० उप० ४ । १६)

सो जो यह कहते हैं, कि उस का यजन करो उसका यजन करो, इस प्रकार एक २ देवता का (यजन कहते हैं), वह इसी का सारा फैलाव है, यही सारे देवता है।

एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते एत मग्नावध्वर्यव एतं

महाव्रते छन्दोगाः (ऐत० आ० ३।२।३।१२)

इस (परमात्मा) को ही ऋग्वेदी बड़े उक्थ में विचारते हैं, इसी को यजुर्वेदी अग्नि में उपासते हैं, इसी को सामवेदी महाव्रत में उपासते हैं। *

सविता आदि देवता नामों से भी प्रजापति की व्यष्टि महिमा का वर्णन है, इसीलिए इन देवताओं को भी प्रजापति कहा है—देखो ऋग् ४।५३।२ में सविता को, ९।५।९। में सोम को, अथर्व २।३४।४ में वायु को, ४।१५।११ में सूर्य को, १७।१।१८ में विष्णु को, ११।६।१२ में प्राण को प्रजापति कहा है। सो ये देवता भी प्रजापति से भिन्न नहीं, किन्तु उसी की व्यष्टि महिमा के प्रकाशक हैं। इसीलिए वेद में स्पष्ट दिखला दिया है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः (ऋग्० १।१६४।२२)

उस एक शक्ति को अनेक रूपों में वर्णन करते हैं-इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि कहते हैं, वही दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् है, उसी अग्नि को यम और मातरिश्वा कहते हैं।

तदेवाग्नि स्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः (यजु ३२।१)

---

* इस विषय का सविस्तर वर्णन वेदोपदेश में हो चुका है, वहीं देख लेना।

वही अग्नि, वही आदित्य, वही वायु, वही चन्द्रमा, वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही जल और वही प्रजापति है ।

स वरुणः सायमग्निर्भवति समित्रो भवति प्रातरुद्यन् । स सविता भूत्वाऽन्तरिक्षेणयाति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् (अथर्व १३।३।१३) .

वह सायं समय वरुण और अग्नि है, वह प्रातः समय उदय होता हुआ मित्र है, वह सविता हो कर अन्तरिक्ष में से जाता है, वह इन्द्र हो कर मध्य से द्यौ को तपाता है ।

स धाता स विधाता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ।३।
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।४।
सो अग्निः स उसूर्यः स उएव महायमः ।५
(अथर्व १३।४)

वह धाता, वह विधाता, वह वायु, वह ऊंचा मेघ है । ३ । वह अर्यमा, वह वरुण, वह रुद्र, वह महादेव है । ४ । वह अग्नि, वह सूर्य, वही महायम है । ५ ।

सारांश यह, कि प्रजापति ही हमारा याज्ञिय देव है । कहीं समष्टि रूप में कहीं व्यष्टि रूपों में, पर है सर्वत्र वही एक हमारा लक्ष्य । और हमारा यज्ञ उस के यज्ञ की अनुकृति है ।

प्रजापति जिन शक्तियों से हमारा जनन और पालन करते हैं, वह शक्तियां पूर्ण बलवती हैं, और जब कभी किसी प्रतिकूल अवस्था से (ऋतुन आदि से) उन में दुर्बलता वा प्रतिकूलता आजाती है, उसका संशोधन वह अपने स्वाभाविक

यज्ञ से करते हैं। अब इसी लक्ष्य से हम भी अपना यज्ञ करते हैं, कि उन शक्तियों की दुर्बलता और प्रतिकूलता दूर हो। इस प्रकार प्रजापति के विराट् यज्ञ में हम अपने इस छोटे यज्ञ को मिलाते हुए उसकी सच्ची पूजा करते हैं, और उसकी कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं। तथा हमारे आचार व्यवहार पर यज्ञ का बड़ा उत्तम प्रभाव पड़ता है, इत्यादि याज्ञिय विषयों में आगे प्रमाण दिखलाते हैं-

यज्ञ अग्नि में करना चाहिये } त्वे इदग्ने सुभगे यविष्ठ्य विश्वमाहूयते हविः। स त्वं नो अद्य सुमना उता परं यक्षि देवान्त्सुवीर्या (ऋग्० १। ३६। ६)

हे युवतम* अग्ने† ! हरएक हवि तुझ में ही होमी जाती है, जो कि बड़ा भाग्यवान् (ऐश्वर्य सम्पन्न) है। सो तू हे अग्ने ! हमारे ऊपर कृपादृष्टि रखता हुआ आज और आगे सदा देवताओं का यजन कर, जिस से कि हम वीरपुत्रों वाले हों।

इस मन्त्र में बतलाया है, (१) हरएक यज्ञ अग्नि में किया जाना चाहिये (२) यज्ञों को लगातार करना चाहिये, (३) अग्नि द्वारा ही दूसरे देवताओं का यजन होता है। (४) यज्ञ का फल वीरपुत्रों की उत्पत्ति है।

भरामेध्मं कृणवामा हवींषि ते चितयन्तः पर्वणा

---

* युवतम, उमंगों से भरे हुए और अपने काम में कभी न थकने वाले।

† अग्नि विराट् का अंग होने से प्रजापति की व्यष्टि महिमा का प्रकाशक है, अतएव यहां इस विशिष्ट रूप में प्रजापति ही संबोधित है। ऐसा ही आगे भी जानना।

पर्वणावयम्। जीवातवे प्रतरं साधया धियोऽग्ने सख्ये मारिषामा वयं तव (ऋग्० १ । ९४ । ४)

पर्व पर्व * पर तुझे (अपनी कामनाएं) जितलाते हुए हम तेरे लिए समिधा संपादन करें, और हविर्यें तय्यार करें । तू हमारे संकल्पों को बहुत बड़ा फल लगा, जिस से हम दीर्घ जीवन जियें, हे अग्ने ! तेरी मित्रता में (तुझ मित्र के होते हुए) हम कभी हानि न उठाएं ।

यज्ञ अग्नि में ही क्यों किया जाए ? } इस प्रश्न का सरल उत्तर यह है, कि अग्नि में ही यह सामर्थ्य है, कि होम्य द्रव्य के अणुओं को पृथक् २ करके सारे विश्व में फैला दे । अग्नि में होमे हुए द्रव्य से पहले वायु संस्कृत होता है । फिर वायु से वृष्टि-जल संस्कृत होता है । वही संस्कृत जल साक्षात् अथवा नदियों झरनों आदि के द्वारा हमारे व्यवहार में आता है । इस संस्कृत जल से उत्पन्न हुए हमारे खाने के सागपात अनाज फल सब बलपुष्टिस्वास्थ्यकर होते हैं । इस प्रकार अग्नि में किया होम हमारा उपकारक बनता है । और इस प्रकार सारे देवताओं में वह बट जाता है, मानों सारे देवता (जीवन देने वाली दिव्य शक्तियें) इसको भक्षण कर लेते हैं । इस अभिप्राय से अग्नि को विराट् का मुख वा देवताओं का मुख कहा है । यह फल अग्नि से अन्यत्र किये यज्ञ से नहीं मिल सकता । जैसा कि

---

* पर्व=जोड़ । मास का पर्व अमवस्या और पौर्णमासी । सो प्रति अमावस्या और पौणमासी को दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि करनी चाहिये, उसी का यह निर्देश है ।

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्‌ देवेषु गच्छति (ऋ० १।१।४)

हे अग्ने! कुटिलता रहित जिस यज्ञ को सब ओर से तुम घेर लेते हो, वही देवताओं में पहुंचता है।

त्वामग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे। त्वां रातिषाचो अध्वरेषु सश्चिरे त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम् (ऋग्० २, १, १३)

हे अग्ने! तुझे देवताओं ने अपना मुख बनाया है, हे कवे! तुझे उन चमकने वालों ने अपनी जिह्वा बनाया है। हवि देने वाले यज्ञों में तेरा सेवन करते हैं, तुझ में होमे हुए हव्य को देवता खाते हैं।

त्वे अग्ने विश्वे अमृतासो अद्रुह आसा देवा हविरदन्त्याहुतम्। त्वया मर्तासःस्वदन्त आसुतिं त्वं गर्भो वीरुधां जज्ञिषे शुचिः। १४।

हे अग्ने सारे देवता जो मनुष्यों की भलाई में लगे हैं, तुझ में होमी हुई हवि को तुझ मुख से खाते हैं, तुझ से (जाठराग्नि से) मनुष्य रस का स्वाद लेते हैं, तू लताओं के अन्दर (उन को कान्ति देता हुआ) प्रकट होता है तू जो चमकने वाला है।

अग्नि देवताओं को हव्य पहुंचाता है, इसलिए उसे हव्यवाह कहा है। देवताओं को ले भी आता है, क्योंकि जहां अग्नि जलती है, वहां वायु खिंचा आता है। वायु के साथ वायु-मण्डल

की अन्य दिव्यशक्तियां (विद्युत, पर्जन्य आदि) भी आती हैं । इसलिए अग्नि को देवताओं का दूत और बुलाने वाला भी कहा है—

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् (ऋ० १, १२, १)

हम अग्नि को वरते हैं, जो देवताओं से भेंट कराने वाला दूत है, धनों का स्वामी है, हमारे इस यज्ञ को अच्छी तरह पूरा करने वाला है ।

अग्निं दूतं पुरोदधे हव्यवाहमुपब्रुवे । देवाँ आसादयादिह (ऋ० ८, ४४, ३)

मैं अग्नि दूत को आगे स्थापन करता हूं, हव्य के उठा ले जाने वाले को संदेश देता हूं, कि वह देवताओं को यहां (हमारे यज्ञ में) लावे ।

होम के योग्य द्रव्य क्या है — इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर यह है—

यज्ञे यज्ञे स मर्त्यो देवान् सपर्यति । यः सुम्नैर्दीर्घश्रुत्तम आविवासात्येनान् (ऋ० १०, ९३, २)

वह मनुष्य यज्ञ यज्ञ में देवताओं की पूजा करता है, जो बहु शास्त्रवेत्ता हो कर (जगत के लिए) सुखकर हव्यों से इन को पूजता है । (अर्थात् होम्यद्रव्य वही हैं, जिन के होमने से देवता हमारे लिए सुख शान्ति के देने वाले बनें) ।

ऐसे द्रव्यों में घृत हमारे लिए सुलभ है ।

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्
आस्मिन् हव्या जुहोतन (ऋ० ८, ४४, १)

समिधा से अग्नि की सेवा करो, घृत से इस अतिथि को प्रचंड करो, और इस में अन्य हव्य (पदार्थों) को भी चारों ओर से होमो ॥ घृत भी तीव्र होना चाहिये। अर्थात् पिघला हुआ, संस्कृत हुआ, वा भावना दिया हुआ।

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे (ऋग्० ५। ५। १)

अच्छी तरह प्रदीप्त हुए, दीप्तिमान् धनों के उत्पादक, अग्नि के लिए तीव्र घृत का होम करो।

सामान्य हव्य तो घृत और पुष्टिबलारोग्यकारक ओषधियें हैं, पर विशेष यज्ञों में उनकी अपनी प्रति नियत हवियां भी होती हैं। जैसे दर्श पौर्णमास में पुरोडाश, और सोमयज्ञों में सोम।

यज्ञिय देवता — पूर्व दिखला चुके हैं, कि यज्ञिय देवता एकमात्र प्रजापति ही है। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' के उत्तर में उसी का वर्णन है। प्रजापति वा विराट् पुरुष परमात्मा का उस विशिष्ट रूप में नाम है, जब कि वह इस समष्टि जगत् का अन्तरात्मा हो कर प्रजाओं का उत्पादन और पालन करता है। इस विशिष्ट रूप में विश्व सारा मानों इस का शरीर है, और सूर्य आदि मानों भिन्न २ गात्र हैं। अतएव यह भी यज्ञिय देवता हैं। क्योंकि यह भी उसी की महिमा

प्रकाशित करते हैं । समष्टि जगत् जिस की महिमा का प्रकाशक है, व्यष्टि जगत् भी उसी की महिमा का प्रकाशक है । अतएव ये सब यज्ञिय देवता हैं ।

विश्वेषामिरज्यवो देवानां वार्महः । विश्वे हि विश्व महसो विश्वे यज्ञेषु यज्ञियाः (ऋग्० १०।९३।३)

हे देवताओ ! तुम जो सब पर शासन करने वाले हो, तुम्हारी शासन शक्ति बड़ी है, तुम सब बड़ी महिमा वाले हो, तुम सब यज्ञों में यज्ञिय हो ।

यहां स्पष्ट कर दिया है, कि जो दिव्य शक्तियां इस सृष्टि-चक्र को चला रही हैं, जिन से हमारा जीवन बना है, और हमें जीवन शक्ति प्रदान करती रहती हैं, वे ही दिव्य शक्तियां यज्ञिय देवता हैं । और इन का संचालन स्वतः प्रजापति करता है, जैसे कि हम अपने अङ्गों का संचालन करते हैं। और उसी की महिमा से ये महिमा वाले हैं, अतः हमारा लक्ष्य इन नामों में भी वही एक प्रजापति होता है । इस से हमारे यज्ञ के दो फल हो जाते हैं ।

यज्ञ का फल — एक तो बाह्य प्रकृति में बल और आरोग्य का संचार और हमारे शरीरों और सन्ततियों में बल और आरोग्य का संचार, दूसरा परमात्मा को लक्ष्य में रखने से अमृतत्व की प्राप्ति । जैसा कि कहा है—

मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥

मधुनक्त मुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः।
मधु द्यौरस्तुनः पिता॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ अस्तु सूर्यः।
माध्वीर्गावो भवन्तुनः (ऋग्० १।९९।६–८;
यजु० १३।२७–२९)

ऋत से प्यार करने वालों के लिए वायु मधु हों, (शहद रूप हो कर बहें) नदियें मधुमय हो कर बहें। ओषधियें हमारे लिए मधु से भरी हुई हों। ६। रातें हमारे लिए मधु हों, और उषाएं मधु हों, पृथिवी (जो हमारी माता है उस–) का एक २ कण हमारे लिए मधु से भरा हो, और हमारा पिता द्यौ हमारे लिए मधु मय हो।७। वनस्पति हमारे लिए मधु से भरे हों, और सूर्य मधु से भरा हो, गौएं हमारे लिए मधु से भरी हों।

आशय–ऋत, सत्य नियम, वा सृष्टि नियम, और यज्ञ का नाम है। यहां दोनों से अभिप्राय है। मधु वह सारांश है, जिस से हमारा जीवन हराभरा और हृष्टपुष्ट होता है। सो यह सारांश सारे विश्व में सूक्ष्मरूप में फैला हुआ है। पर यह हमारे सांस लेने आदि से दूषित भी होता रहता है, जिस को प्रजापति का यज्ञ शोधता रहता है। और हमारा यज्ञ भी यही काम करता है। इसलिये वह पुरुष जो यज्ञ से प्यार करता है, उस के लिए सारी सृष्टि मधुमयी बन जाती है।

वृषा यज्ञो वृषणः सन्तु यज्ञिया वृषणो देवा वृषणो

हविष्कृतः । वृषणा द्यावापृथिवी ऋतावरी वृषा पर्जन्यो वृषणो वृषस्तुभः (ऋग्० १० । ६६ । ६)

यज्ञ शक्तिमान् हो, याज्ञिय देवता शक्तिमान् हों, पुरोहित शक्तिमान् हों, यजमान शक्तिमान् हों, सत्य नियमों वाले द्यौ और पृथिवी शक्तिमान् हों, पर्जन्य शक्तिमान् हो, और शक्तिमान् ऋत्विजों के स्तोत्र शक्तिमान् हों ।

यज्ञोदेवानांप्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः । आवोर्वाची सुमतिर्ववृत्यादंहोश्चिद् या वरिवो वित्तराऽसत् (ऋग्० १।१०७।१)

यज्ञ देवताओं की स्वीकृति को प्राप्त होता है, हे देवताओ ! तुम हमारे लिए सुखदायी बनो, तुम्हारी सुमति सीधी हमारी ओर आवे, जो (सुमति) एक रंक को भी मालामाल कर देने वाली हो ।

यज्ञोहि त इन्द्रवर्धनो भूदुतप्रियः सुतसोमो मियेधः । यज्ञेन यज्ञ मव यज्ञियः सन् यज्ञस्ते वज्र महिहत्य आवत् (ऋग्० ३ । ३२ । १२)

हे इन्द्र यज्ञ तेरी शक्ति का बढाने वाला है, बहते हुए सोम वाला पवित्र यज्ञ सदा तुझे प्रिय है । यज्ञ से पूर्ण हो कर (उस स्वाभाविक) यज्ञ से (हमारे) यज्ञ को सहायता दे, जिस से कि यह हमारा यज्ञ वृत्र के मारने में तेरे वज्र को सहायता पहुंचाए ।

इस मन्त्र में स्वाभाविक यज्ञ और हमारे यज्ञ के मेल, और

उस मेल से देवताओं की शक्ति बढ़ने का स्पष्ट वर्णन कर दिया है।

दिवि विष्णुर्व्यक्रꣳस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रꣳस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रꣳस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया अगन्म स्वः सं ज्योतिषाभूम (यजु० २। २५)

द्यौ में यज्ञ जगती छन्द* से चला, वहां से वह निकाल दिया गया† जो हम से द्वेष करता है, और जिस से हम द्वेष करते हैं। अन्तरिक्ष में यज्ञ त्रिष्टुप्छन्द से चला, वहां से वह निकाल दिया गया जो हम से द्वेष करता है, और जिस से हम द्वेष करते हैं। पृथिवी में यज्ञ गायत्री छन्द से चला, वहां से वह निकाल दिया गया, जो हमसे द्वेष करता है, और जिस से हम द्वेष करते हैं। हम स्वर्ग (शुद्ध सुख) में पहुंच गए हैं, हम ज्योति से संगत हुए हैं।

---

* गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती इन तीन वैदिक छन्दों में वे दिव्य शक्तियां हैं, जो क्रमशः पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ से सम्बन्ध रखती हैं। अथवा ये छन्द हमारी उन प्रार्थनाओं के प्रतिनिधि हैं, जो पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ से सम्बन्ध रखती हैं।

† अक्षरार्थ-भाग हीन कर दिया गया।

यहां स्पष्ट दिखला दिया है, कि यज्ञ सूक्ष्म रूप धारकर हमारे साथ ऐहिक और पारलौकिक सम्बन्ध रखने वाले तीनों लोकों में फैल जाता है, और जहां २ पहुंचता है, वहां २ से हमारे लिए हानिकर पदार्थ को दूर कर देता है।

देवान् दिवमगन् यज्ञस्ततो माद्रविणमष्टु मनुष्या नन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो माद्रविणमष्टु पितॄन् पृथिवी मगन् यज्ञस्ततो माद्रविणमष्टु यं कं च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे भद्रमभूत् (यजु० ८ । ६०)

यज्ञ द्यौ में देवताओं को पहुंचा, वहां से मुझे उत्तम फल प्राप्त हो, यज्ञ अन्तरिक्ष में मनुष्यों को पहुंचा, वहां से मुझे उत्तम फल प्राप्त हो। यज्ञ पृथिवी में पितरों को प्राप्त हुआ है। वहां से मुझे उत्तम फल प्राप्त हो। जिस किसी लोक में यज्ञ पहुंचा है, वहां से मेरे लिए भद्र हुआ है।

पिछले मन्त्र में यज्ञ दोषों का नाशक बतलाया था, इस में उत्तम फलों का दाता।

यज्ञस्य दोहो विततः पुरुत्रा सो अष्टधा दिव मन्वाततान। स यज्ञ धुक्ष्व महि मे प्रजायाᳬ रायस्पोषं विश्वमायुरशीय स्वाहा (यजु० ८ । ६२)

यज्ञ का दोह (दूध, उत्तम फल) सर्वत्र फैल गया है, वह आठ प्रकार से* आकाश में फैला है, ऐसे तुम हे यज्ञ मेरी सन्तति

* आकाश में आठ प्रकार से अर्थात् आकाश की चारों दिशाओं और चारों उपदिशाओं में।

में महिमा (वा बहुतायत) दो, मैं धन की पुष्टि और पूर्ण आयु को भोगूं।

यज्ञ के ये साधारण फल हैं, हरएक यज्ञ के अपने २ असाधारण फल और भी बहुत से हैं। जैसे दर्शयाग (अमावस्येष्टि) में दही की हवि के लिए तीन गौओं का दूध लिया जाता है। यह तभी हो सकता है, जब यजमान के घर में न्यून से न्यून तीन गौएं सदा दुधारु बनी रहें। इस का एक फल तो उस गृहस्थ को यह मिलेगा कि उस के सारे परिवार को स्वादिष्ट भोजन मिलेंगे, और इस उत्तम आहार के बल से उस की सन्तान अवश्य ही हृष्टपुष्ट दृढिष्ठ बलवान नीरोग और दीर्घायु होगी। जैसा कि

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्। भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु (ऋग्० ६। २८। ६)

हे गौओ! तुम दुबले को भी हृष्टपुष्ट बना देती हो, कुरूप को भी रूपवान बना देती हो, हे भली वाणी वालियो! मेरे घर को भद्र (भला, कल्याण युक्त) बना दो। हमारी सभाओं में तुम्हारी बड़ी शक्ति कही जाती है॥

दूसरा फल-समाज पर इस का यह प्रभाव पड़ता है, कि पशुओं की बहुतायत रखने वाले समाज को घर और गली कूचे अवश्य ही खुले बनाने पड़ते हैं, और ग्राम नगर के साथ उन की वस्ती के अनुसार गोचर (चरागाहें) छोड़ने पड़ते हैं। इस का प्रभाव स्वास्थ्य पर बहुत अच्छा पड़ता है। और दूसरा समाज के वीर पुरुष मिलते हैं। और सन्तति की वृद्धि से नए २ उपनि-

पैदा बनाने पड़ते हैं । इस से उन में वीरता उत्साह और उमंगें मध्यम होने नहीं पातीं ।

इसी प्रकार समाज के सदाचार पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है । दर्शपौर्णमास यज्ञ करने लगा यजमान यह व्रत धारण करता है—

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मेरा-ध्यताम् । इदमहमनृतात् सत्य मुपैमि (यजु १।५)

हे व्रतपति अग्ने ! मैं व्रत पालूंगा, मैं उस को पालसकूं, वह मेरा सफल हो । यह मैं अनृत से सत्य की शरण लेता हूं ॥ यह व्रत धारण कर उस को झूठ नहीं बोलना चाहिये, तभी उस का यज्ञ फलवान् होगा । जब इस प्रकार पुरुष दृढ़ व्रत धारण करे और प्रति पन्द्रहवें दिन उस को दुहराता रहे, तो सच बोलना निःसंदेह उस का स्वभाव बन जाएगा । इस प्रकार ये यज्ञ लोक में यजमान, उस के परिवार और समाज सब के लिए हितकर बनते हैं । यह तो हुआ यज्ञ का लौकिक फल ।

यज्ञ का मुख्य फल — पर मुख्य फल यज्ञ का मोक्ष है । जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ के 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' मन्त्र में दिखलाया है ।

प्रश्न—मोक्ष तो विद्या से मिलता है, न कि कर्म से । जैसा कि कहा है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः पर-स्तात् । तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था

विद्यतेऽयनाय (यजु० ३१, १८)

मैं उस महान् पुरुष को जानता हूं, जो अविद्या से परे प्रकाश स्वरूप है। उसी को जान कर पुरुष मृत्यु को लंघ जाता है, (मोक्ष की ओर) चलने के लिए और कोई मार्ग नहीं है।

उत्तर–निःसंदेह मोक्ष विद्या से ही प्राप्त होता है। कोरे कर्मों से नहीं। पर कर्म भी अन्तःकरण को शुद्ध बनाते हैं और शुद्ध अन्तःकरण में परमात्मा का प्रकाश होता है। इस प्रकार कर्म भी परम्परा से मोक्ष के साधन बनजाते हैं। पर यह जानना चाहिये, कि यद्यपि कर्म और विद्या दोनों एक नहीं, तथापि इकट्ठे रह सकते हैं। वैदिक यज्ञ अपने उच्च रूप में ऐसे ही हैं, कि जिन में कर्म और विद्या का इकट्ठ हो जाता है।

जैसा कि पूर्व कह आए हैं, कि यज्ञ करते समय ऋत्विज और यजमान अग्नि में उस परमात्मा ज्योतियों के ज्योति को देखते हैं, जो इस सारे विश्व का संचालक है, इसी प्रकार सब देवताओं में उसी एक की महिमा देखते हैं। सो जब इस प्रजापति के प्रेम में रंगे हुए, उस को इस विश्व में साक्षात् अनुभव करते हुए उसी को भेंट देते हुए हम यज्ञ करते हैं, तो हमारा यज्ञ कोरा कर्म नहीं रहता, विद्या सहित हो जाता है, अतएव जहां कोरा कर्म चित्त शुद्धि द्वारा परम्परा से मोक्ष का हेतु होता है, वहां यज्ञ अपने साथ ली हुई विद्या द्वारा साक्षात् ही मोक्ष का हेतु होता है, जैसा कि कहा है—

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूयइव ते तमो य उविद्यायाᳬंरताः॥९॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रमधीराणां येनस्तद्व विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदो भयऽ्सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। ११

(यजु० ४०)

जो कोरे कर्म में लगे हैं, वे घुप अन्धेरे में प्रवेश करते हैं, और वे मानों उस से भी बढ़कर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं, जो फाकी विद्या में रत हैं। ९। विद्या से और ही फल कहते हैं, और कर्म से और कहते हैं, यह हमने उन धीर जनों से सुना है, जिन्होंने हमें यह खोल कर बतलाया। १०। अतएव वह जो कर्म और विद्या इस जोड़े को साथी जानता है, वह कर्म से मृत्यु के पार हो कर विद्या से अमृत को पाता है।

इस प्रकार यज्ञ में कर्म और ज्ञान दोनों का समावेश होने से यजमान अभ्युदय और निःश्रेय दोनों फलों का भागी होता है।

गीता में यज्ञ की महिमा } सह यज्ञाः प्रजाःसृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्ट कामधुक् (गीता ३।१०

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। ११।

इष्टान् भोगान् हिवो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तान प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एवसः। १२।

यज्ञशिष्टाशिनःसन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्म कारणात् । १३ ।

पूर्व काल में यज्ञों समेत प्रजाओं को रच कर प्रजापति ने कहा (आज्ञा दी) 'इस से तुम बढो' यह तुम्हारी मनोवाञ्छित कामनाओं को पूर्ण करने वाला हो । १० । इस (यज्ञ) से तुम देवताओं को पुष्ट करो, वे देवता तुम्हें पुष्ट करें । (इस प्रकार) एक दूसरे को पुष्ट करते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त होवो । ११ । यज्ञों से वढाए हुए देवता निःसंदेह तुम्हें मनोवाञ्छित भोग देंगे । उनसे दिए हुओं को उन्हें न देकर जो भोगता है, वह चोर ही है । १२ । यज्ञ शेष के खाने वाले सारे पापों से छूट जाते हैं, पर वे पापी निरा पाप खाते हैं, जो अपने ही निमित्त पकाते हैं । १३ ।

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः । १४ ।
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् । १५ ।
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

प्राणी सब अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न मेघ से, मेघ यज्ञ से और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है । १४ । कर्म को वेद से उत्पत्ति वाला जान, वेद अविनाशी (परमात्मा) से उत्पत्ति वाला है इसलिए सर्व व्यापक ब्रह्म यज्ञ में सदा स्थित है ।१५।

इस प्रकार (प्रजापति से) चलाए चक्र का जो अनुसरण नहीं करता है, पाप की आयु वाला इन्द्रियों में रमण करने वाला वह पुरुष हे अर्जुन व्यर्थ जीता है ।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्य मुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः (मनु० ३ । ७६)

अग्नि में यथाविधि डाली हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है । सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजाएं होती हैं ।

यज्ञ से शिक्षा — यज्ञ एक ऐसा कर्म है, जिस से सब का भला होता है, करने वाले का भी, और अडोसियों पडोसियों का भी । अतएव कहा है—

यज्ञोपि तस्यै जनतायै कल्पते,
यत्रैवं विद्वान् होता भवति (ऐत० ब्रा० १ । २ । ३)

यज्ञ भी उस जनसमुदाय के सुख के लिए होता है, जहां ऐसा विद्वान् होता होता है ।

सो यज्ञ हमें यह शिक्षा देता है कि सब के भले में अपना भला जानो । दूसरा यह, कि दूसरों की भलाई के लिए अपना स्वार्थ त्याग (इदं न मम) करो ।

यज्ञ का व्यापक अर्थ — अतएव वह हरएक कर्म, जिस में स्वार्थ का सर्वथा त्याग हो, वा दूसरों की भलाई में अपनी भलाई अभिप्रेत हो, यज्ञ कहलाता है । इसी अभिप्राय से वेद में प्रजापति के प्रजाओं के उत्पादन और पालन के कर्म को यज्ञरूप से वर्णन किया है, जैसा कि पूर्व दिखला आए हैं । इसी अभिप्राय से महाभारत में कहा है ।

आरम्भयज्ञाः क्षत्राश्च हविर्यज्ञा विशः स्मृताः।
परिचारयज्ञाः शूद्राश्च जपयज्ञा द्विजातयः (म० भा० शां० २३७। १२)

क्षत्रियों के लिए उद्योग, वैश्यों के लिए हवि, शूद्रों के लिए सेवा और ब्राह्मणों के लिए स्वाध्याय यज्ञ है।

पञ्च महा यज्ञ — इस व्यापक अर्थ को लेकर गृहस्थ के पांच नित्य कर्म पञ्चमहायज्ञ कहे गये हैं—जिन के नाम ये हैं, ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय और प्रवचन) देवयज्ञ (होम) पितृयज्ञ (पितृ पूजा) भूतयज्ञ (दीनों और अनाथों का पालन पोषण, पशुओं की रक्षा, तथा वृक्षों का रोपण,) नृयज्ञ (अतिथियों की सेवा शुश्रूषा)*।

यजमान की उच्च कामनायें — यज्ञ के व्यापक अर्थ को लेकर ही यजुर्वेद के अठारहवें अध्याय के पहले १९ मन्त्रों में यजमान की उच्च कामनाओं का वर्णन है, जिन में से कुछ मन्त्र हम यहां देते हैं।

वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रयतिश्च मे प्रसितिश्च मे धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे स्वश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। १।

---

* पञ्चमहायज्ञों के मन्त्र, उनके अर्थ और करने की विधि आदि आर्य पञ्चमहा यज्ञ पद्धति में लिख चुके हैं, इसलिये यहां विस्तार नहीं किया है।

मेरी शक्ति और मेरा फैलाव, मेरी शुद्धि और मेरा प्रभाव, मेरी बुद्धि और मेरा संकल्प, मेरा उच्चारण और मेरी स्तुति, मेरी प्रसिद्धि और मेरी ख्याति, मेरी ज्योति और मेरा स्वर्ग (दिव्य सुख वा दिव्य प्रकाश) यज्ञ से सफल (वा सम्पूर्ण) हों।३।

ज्यैष्ठ्यं च मे आधिपत्यं च मे मन्युश्च मे भामश्च मे ऽमश्च मे ऽम्भश्च मे जेमा च मे महिमा च मे वरिमाच मे प्रथिमाच मे वर्षिमाच मे द्राघिमाच मे वृद्धंच मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।४।

मेरा बड़प्पन और मेरा स्वामिपन, मेरा क्रोध और मेरी भड़क, मेरा वेग और मेरी उग्रता, मेरी विजय शक्ति, और मेरी महिमा, मेरा विस्तार (नई २ भूमि वा नए २ कार्य अपने अधीन करते जाना) और मेरी विशालता, मेरी ऊंचाई और मेरी लंबाई, मेरी बाढ (अन्नादि की बहुतायत) और मेरी वृद्धि (विद्यादि गुणों द्वारा उन्नति) यज्ञ से सफल हों । ४ ।

सत्यंच मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनंच मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणंच मे सूक्तंच मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । ५ ।

मेरा सत्य और मेरी श्रद्धा, मेरे पशु और मेरा धन, मेरी सब वस्तुएं और मेरी चमक, मेरी खेलें और मेरे आनन्द मोद, मेरी सन्तति और मेरी प्रसन्तति, मेरा शुभ वचन और मेरा शुभ कर्म यज्ञ से सफल (वा सम्पूर्ण) हों । ५ ।

ऋतंच मेऽमृतंच मेऽयक्ष्मंच मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वंच मेऽनमित्रच मेऽभयंच मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । ६ ।

मेरा ऋत (नियम पर चलना) और मेरा अमृत (ऋत पर चलने का फल), मेरा क्षयि रोगों से बचे रहना, और मेरा हरएक (छोटे मोटे) रोग से बचे रहना, मेरा जीवन और मेरी दीर्घ आयु, मेरा शत्रुओं से रहित होना और मेरी निर्भयता। मेरा सुख और मेरा शयन, मेरी सुप्रभात, और मेरा सुदिन यज्ञ से सफल (वा पूर्ण) हों। ६।

शंच मे मयश्च मे प्रियंच मे ऽनुकामश्च मे कामश्च मे सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।८।

मेरा सुख और मेरा आराम, मेरा प्रिय और मेरा अभीष्ट मेरी कामना और मेरा सौमनस्य, मेरा ऐश्वर्य और मेरा धन, मेरी भलाई (अर्थ का लाभ) और मेरा कल्याण (धर्म का लाभ), मेरे उच्च कर्म और मेरा यश यज्ञ से सफल हों। ८।

ऊर्क्च मे सूनृता च पयश्च मे रसश्च मे घृतंच मे मधु च मे सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च मे औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । ९ ।

मेरा सत्व (अङ्ग २ में अपनी सत्ता दिखलाता हुआ जीवन) मेरी सच्ची मीठी वाणी, मेरा दूध और मेरा रस, मेरा घृत और मेरा मधु, मेरा मिल कर खाना, और मेरा मिल कर पीना, मेरी खेती और मेरी वृष्टि, मेरी जयशीलता, और मेरा विजय यज्ञ से सफल हों । ९ ।

वित्तं च मे वेद्यं च मे भूतं च मे भविष्यच्च मे सुगं च मे सुपथ्यं च म ऋद्धं च म ऋद्धिश्च मे क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे मतिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । ११ ।

जो कुछ मैंने प्राप्त कर लिया है, और जो आगे प्राप्त करना है, जो कुछ मेरे पास है, और जो आगे होगा, मेरी सीधे राजपथ और मेरे सीधे मार्ग, मेरे भरे हुए भंडार और मेरी ऋद्धि, मेरे सिद्ध हुए कार्य और मेरी सिद्धि, मेरी समझ और मेरी शुभ मति यज्ञ से सफल हों । ११ ।

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । १२ ।

मेरे चावल और मेरे जौ, मेरे माष और मेरे तिल, मेरे मूंग और मेरे चणे, मेरी कंगनी और मेरा चीना, मेरा सवांक और मेरा झाडवां सवांक (जंगली सवांक) मेरी गेहूं और मेरे मसूर यज्ञ से सफल (वा पूर्ण) हों । १२ ।

अग्निश्च मे आपश्च मे वीरुधश्च मे ओषधयश्च मे कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशव आरण्याश्च मे वित्तं च मे वित्तिश्च मे भूतंच मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । १४ ।

मेरी अग्नि और मेरे जल, मेरी बेलें और मेरे पौदे, मेरे वे अनाज और फल जो वाहने से पके हैं (गेहूं आदि) और वे जो बिना वाहे पके हैं, मेरे ग्राम्य पशु और मेरे जंगली पशु, मेरी कमाई, और मेरी कमाने की शक्ति, मेरी अपनी हो चुकी वस्तु और उन को अपना बना लेने की शक्ति यज्ञ से सफल हो । १४ ।

वसु च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मेऽर्थश्च म एमश्च म इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । १५ ।

मेरा कोष और मेरी वसति, मेरा कर्म और मेरी शक्ति, मेरा अर्थ और मेरा उपाय, मेरा मार्ग और मेरी गति यज्ञ से सफल हों । १५ ।

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताᳬ श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग् यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पता मात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च साम च बृहच्च रथन्तरं च स्वर्देवा

अगन्मामृता अभूम प्रजापतेः प्रजा अभूम वेट् स्वाहा । २९ ।

आयु यज्ञ से सफल हो, प्राण यज्ञ से सफल हो, नेत्र यज्ञ से सफल हो, श्रोत्र यज्ञ से सफल हो, वाणी यज्ञ से सफल हो, मन यज्ञ से सफल हो, आत्मा यज्ञ से सफल हो, ब्रह्मा यज्ञ से सफल हो, (मेरे इन्द्रियों की) ज्योति यज्ञ से सफल हो, (मेरे मन की) दिव्य ज्योति यज्ञ से सफल हो, स्तोत्र यज्ञ से सफल हो, यज्ञ यज्ञ से सफल हो। स्तोम, यजु, ऋचा साम और बृहद और रथन्तर (साम विशेष) (यज्ञ से सफल हो हे देवताओ! हमने दिव्य ज्योति को पा लिया है, हम अमर हो गए हैं. हम प्रजापति की प्रजा हो गए हैं । २९ ।

कितनी उच्च कामनाएं, कितना उदार हृदय कितना उच्च जीवन इन मन्त्रों में दिखलाया है । ऐसा जीवन ही हरएक आर्य यजमान का परम लक्ष्य होता था, ऐसा जीवन सदा स्पृहणीय रहा है, और स्पृहणीय ही रहेगा ।

दक्षिणा ।

दक्षिणा का अर्थ — शुभकर्मों का, विशेषतः यज्ञ का प्रतिफल दक्षिणा कहलाती है। जैसा कि कहा है—

न म इन्द्रेण सख्यं वियोषदस्मभ्यमस्य दक्षिणा दुहीत । उपज्येष्ठे वरूथे गभस्तौ प्राये प्राये जिगीवांसः स्याम (ऋग्० २।१९।८)।

इन्द्र के साथ मेरी मित्रता कभी न टूटे, इसकी दक्षिणा सदा हमें दुहाती रहे (हमारी कामनाएं पूरती रहे) हम उस की

भुजाओं के अन्दर सब से ऊंची रक्षा में सुरक्षित रहें, और आगे २ बढ़ने में हम सदा कृतकार्य होते रहें।

नूचिन्न इन्द्रो मघवा सहूती दानो वाजं नियमते न ऊती। अनूना यस्य दक्षिणा पीपाय वामं नृभ्यो अभिवीता सखिभ्यः (ऋग्० ७।२७।४)

कोषों के स्वामी दानी उस इन्द्र को जूंही कि हम बुलाते हैं, वह हमारी रक्षा के लिए शक्ति भेजता है, जिस की कि न ऊनी और सब ओर से सुहावनी दक्षिणा आर्य मित्रों के लिए धन के भंडार लाती है।

यस्यामितानि वीर्या न राधः पर्येतवे।
ज्योतिर्न विश्वमभ्यस्ति दक्षिणा (ऋ० ८।२४।२१)

जिस की शक्तियें अपरिमित हैं, जिस का ऐश्वर्य घेरे के अन्दर नहीं है, जिस की दक्षिणा ज्योति की तरह सब के ऊपर छा रही है।

इस प्रकार शुभ कर्मों का शुभ फल जो हमें परमात्मा देते हैं वह हमारे लिए उनकी दक्षिणा है।

धर्म युद्ध भी एक धर्म कार्य है, वा यज्ञ के व्यापक अर्थ में यज्ञ ही है, इसलिए धर्म युद्ध में जो फल मिलता है, उस को भी दक्षिणा कहा है—

महाँ उग्रो वावृधे वीर्याय समाचक्रे वृषभः काव्येन।
इन्द्रो भगो वाजदा अस्य गावः प्रजायन्ते दक्षिणा

अस्य पूर्वी (ऋग्० ३।३६।५)

महान् और भयंकर इन्द्र वीरकर्म के लिए बढ़ता है, वह शक्तिमान् प्रत्यक्ष देखने वाली प्रज्ञा के साथ सब कुछ ठीक २ जुटा देता है । ऐश्वर्यवान् इन्द्र बल देता है, तब बहुतसी गौएं इस की दक्षिणा बनती हैं, (युद्ध में जीती हुई गौएं वा भूमियें)।

शुभ कर्मों की दक्षिणा परमात्मा से अवश्यमेव मिलती है, और दक्षिणा मिलने से मनुष्य की श्रद्धा दृढ़ होती है, इसी लिए कहा है—'दक्षिणा श्रद्धा माप्नोति'=दक्षिणा से श्रद्धा को प्राप्त होता है ।

यह दक्षिणा तो यज्ञ का वह प्रतिफल है जो यजमान को परमात्मा से मिलता है, पर इस यज्ञ के कराने वाले जो ऋत्विज् होते हैं, जो यजमान के लिए कर्म करते हैं, जो अपने आत्मबल और यथार्थ मर्यादा से यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण कराते हैं, उन को दक्षिणा यजमान देता है। यह दक्षिणा भी यज्ञ का आवश्यक अङ्ग है, परमात्मा यजमान के यज्ञ को कभी दक्षिणाहीन नहीं रहने देते, यजमान को भी परमात्मा का यज्ञ दक्षिणाहीन नहीं करना चाहिये, इसी अभिप्राय से वेद में यज्ञ और दक्षिणा का नियत सम्बन्ध इस प्रकार दिखलाया है—

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तावानाम । स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा (यजु० १८ । ४२)

भोगों के भुगाने वाला उत्तम पंखों वाला (उड़ कर सर्वत्र

पहुंचने वाला, वा उड़ कर देवताओं में पहुंचने वाला) यज्ञ गन्धर्व है, दक्षिणाएं उस की अप्सराएं हैं, जो स्ताव कहलाती* हैं वह यज्ञ हमारे इस ब्रह्म और क्षत्र की रक्षा करे, हमारा यह हवन उस यज्ञ के लिए शुभ हो और उन दक्षिणाओं के लिए शुभ हो।

दक्षिणा सूक्त } देने लेने वाले दोनों के लिए आदरणीय इस दक्षिणा धर्म का वर्णन वेद में इस प्रकार है—

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १०७। इस सूक्त का ऋषि अंगिरा गोत्री दिव्य अथवा प्रजापति की पुत्री दक्षिणा ऋषि का है। देवता दक्षिणा वा दक्षिणा देने वाले यजमान, छन्द त्रिष्टुप्, चौथी ऋचा का जगती।

आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि। महि ज्योतिः पितृभिर्दत्त मागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि ।१।

इन (मनुष्यों) का बड़ा ऐश्वर्य (उषा के रूप में) प्रकट हुआ है, सारा जीवित जगत् अन्धेरे से छूट गया है। पितरों से दी हुई बड़ी ज्योति आई है, दक्षिणा का खुला मार्ग देखा गया है। १।

---

* गन्धर्व=मेघ और अप्सराएं=विद्युत्। स्ताव=जिन से स्तुति की जाती है 'दक्षिणाभिर्यज्ञः स्तूयतेऽथ यो वै कश्चन दक्षिणां ददाति स्तूयत एवस:'=दक्षिणाओं से ही यज्ञ की स्तुति की जाती है, और जो कोई दक्षिणा देता है, उसकी स्तुति भी होती ही है (श० ब्रा० ९।४।१।११)

इस पहले मन्त्र में उषा का वर्णन है, दक्षिणा उषा का नाम है, जैसा कि 'पृथूरथो दक्षिणाया अयोजि' (आर्य्य जीवन पृष्ठ ११) में आया है*। उषा का नाम दक्षिणा इस लिए है, कि दिव्य यज्ञ (प्रजापति के यज्ञ) की वह मानो दक्षिणा है। सो जिस समय दिव्य यज्ञ की दक्षिणा प्रजापति की ओर से सारे जगत् में बट रही है, उसी समय हमें भी अपना यज्ञ फैलाना और दक्षिणा देनी चाहिये।

मन्त्र का आशय यह है, कि यह ज्योति (उषा) मनुष्यों का बड़ा ऐश्वर्य है, यह मानो नया जीवन लाती है, अन्धकार को मिटाती है, और हमें जगाकर काम में लगाती है। इस समय द्यौ में इस दक्षिणा का जो खुला मार्ग देखते हो, यह तुम्हें बोधन करता है, कि यह वेला दक्षिणा का है, प्रजापति से दी हुई इस दक्षिणा का स्वागत करो, और ऐसे विशाल हृदय से तुम भी अपने यज्ञ को दक्षिणा सहित करके प्रजापति के अर्पण करो।

उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण। हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्रतिरन्त आयुः ।२।

दक्षिणाओं के देने वाले द्यौ में ऊंचे स्थित होते हैं, (सामान्य फल कहकर दक्षिणाविशेष का फलविशेष दिखलाते हैं) जो घोड़ों के देने वाले हैं, वे सूर्य के साथ रहते हैं। जो सुवर्ण

* और देखो ऋग्० ३।५८।१ तथा ६।६४।१।

के देने वाले हैं, वे अमर जीवन पाते हैं, और जो वस्त्रों के देने वाले हैं, हे सोम ! (सुशील) वे आयु को बढ़ाते हैं ।

दैवी पूर्तिर्दक्षिणा देवयज्या नकवारिभ्यो न हि ते पृणन्ति । अथा नरः प्रयतदक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति ।३। शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभिचक्षते हविः । ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति संगमे ते दक्षिणां दुहते सप्तमातरम् ।४।

देवताओं का प्रसाद लाने वाली दक्षिणा और देवयज्या शूमों से नहीं होती, क्योंकि वे देना नहीं जानते हैं, और बहुतेरे लोग हैं, जो निन्दा के डर से (न कि धर्म पर सच्ची श्रद्धा से) लंबे हाथ करके दक्षिणा (=दिखलावे की दक्षिणा) देते हैं । १ । (हां वे जो) अपने नेताओं (धर्माचार्यों) को पहचानने वाले हैं, वे अपनी हवि को (जीवन की-) सैंकड़ों धाराएं बहाते हुए-वायु की नाईं सम्मान देते हैं। यही हैं, जो कि यज्ञ में दक्षिणा और सभा समाज में * दान देते हैं, वे ही अन्त में सात माताओं वाली † दक्षिणा को दोहते हैं।

---

* संगम=मेलमिलाप के अवसर । यज्ञ और सभा समाज। पृणन्ति और प्रयच्छन्ति दोनों का अक्षरार्थ देते हैं। उचित होने से यज्ञ में दक्षिणा और सभा समाज में दान अभिप्रेत है।

† सात माताएं, सात लोक । अर्थात् यजमान के लिए सातों लोक भोगप्रद होते हैं।

दक्षिणावान् प्रथमो हूत एति दक्षिणावान् ग्राम-णीर ग्रमेति। तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणा माविवाय।५।

दक्षिणा वाला पहले बुलाया जाता है (मुख्य आदर पाता है) दक्षिणा वाला दलों का नेता बनकर आगे चलता है, उसी को मैं मनुष्य का शासन करने वाला (ठीक मार्ग पर ले जाने वाला) मानता हूं, जो प्रथम हो कर (प्रफुल्लित मन से) दक्षिणा को प्यार करता है।

तमेव ऋषिं तमुब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगा मुक्थ शासम्। स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध।६।

उसी को ऋषि और ब्रह्मा कहते हैं, उसी को अध्वर्यु उद्गाता और होता कहते हैं, * वह तेज के तीनों रूप (सूर्य, विद्युत और अग्नि) जानता है, जो प्रथम हो कर दक्षिणा से यज्ञ को पूर्ण करता है।

---

* यज्ञ के पूरा करने वाले ऋत्विज् यजमान के प्रतिनिधि हो कर कर्म करते हैं। यजमान उनको उनके कर्म का प्रतिफल रूप दक्षिणा देता है, और तब वह कर्म सारा उसी का बन जाता है, वही उस सारे कर्म का फल भागी होता है। सो जिसने दक्षिणा देदी, उसने ब्रह्मा अध्वर्यु उद्गाता और होता के काम को अपना बना लिया, मानो वह आप ही ब्रह्मा अध्वर्यु उद्गाता और होता है। अतएव उस का यज्ञ सर्वांग पूर्ण हुआ है, पर जो दक्षिणा नहीं देता, वा अधूरी देता है, वह ऋत्विजों के कर्म का फल भागी नहीं बन सकता, अतएव उसका यज्ञ अपूर्ण रहता है।

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमु-तयद्धिरण्यम् । दक्षिणाऽन्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन् । ७ ।

दक्षिणा (अपने दाता को) गौएं और घोड़े देती है, दक्षिणा सोना और चांदी देती है, दक्षिणा अन्न देती है, जो हमारा प्राण है, विद्वान् (यजमान) दक्षिणा को अपना कवच (दुःख दारिद्र्य के प्रहारों से बचाने वाला) बना लेता है।

न भोजा मम्रुर्नन्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः । इदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत् सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति । ८ ।

भोज* न मरते हैं, न क्षीण होते हैं, न हानि उठाते हैं, न कष्ट उठाते हैं, (अपमृत्यु दुःख दारिद्र्य उनके पास नहीं आते) यह (हमारे चारों ओर वर्तमान) जो सारा जगत् है, और जो दिव्य जगत् है, यह सब दक्षिणा इनको दे देती है, (अर्थात् उन के लिए सारा जगत् भोग देने वाला बन जाता है)

भोजा जिग्युः सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्यु-र्वध्वं या सुवासाः । भोजा जिग्युरन्तः पेयं सुराया

---

* भोज का अर्थ है भोगने और भुगाने वाला। अर्थात् जो धन को दबा नहीं रखते हैं। स्वयं उपभोग करते हैं, और अपने इष्ट मित्रों को भुगाते और उदार हृदय से दान देते हैं। इस सारे भाव को प्रकट करने वाला और कोई शब्द नहीं इसलिए हमने भोज शब्द के स्थान कोई और शब्द नहीं रखा है।

भोजा जिग्युर्ये अहूता प्रयन्ति । ९ ।

भोज महकते हुए स्थान (घर वा देश) को जीतते हैं,* भोज वधू को जीतते हैं, जो सुशीला हो, भोज निचोड़े हुए रस का मुख्य घूंट जीतते हैं, भोज उन को जीतते हैं, जो (अधिक बल के घमंड में) विन बुलाए उन पर चढ़ाई करते हैं।

भोजायाश्वं संमृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या शुम्भमाना । भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम् । १० ।

भोज के लिए शीघ्रगामी घोड़े को सजाते हैं, भोज के लिए कान्ति से भरे हुए अङ्गों वाली (वस्त्र भुषण आदि से) शोभायमाना कन्या प्रतीक्षा करती है, (उस के भाग्य में आती है) भोज का घर कमलिनी की तरह सजा हुआ और देवमन्दिर (अग्निगृह) की नाईं जगमगाता हुआ होता है ।

भोजमश्वाः सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणायाः । भोजं देवासोऽवता भरेषु भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता ॥११॥

भोज को सुन्दर चालों वाले घोड़े ले चलते हैं, दक्षिणा का रथ सुगमता से घूमने वाला होता है,† भोज को हे देवताओ

---

* जीतने से अभिप्राय अपनी कमाई से प्राप्त करना होता है, चाहे युद्ध में जीता हो, वा किसी तरह कमाया हो ।

† दक्षिणा का फल ऐसे रथ की प्राप्ति है, जो सुगमता से घूमने वाला हो, जिस के आगे कोई रुकावट खड़ी न हो सके ।

संग्रामों में सहायता दो, भोज युद्धों में शत्रुओं पर सदा विजय पाता है।

यह पूरा सूक्त दक्षिणा की महिमा में है, इस में दक्षिणा का स्वरूप, फल और देने की आवश्यकता सभी वर्णन कर दिये हैं। अन्यत्र भी दक्षिणा का वर्णन है, जैसे—

नाकस्य पृष्ठे अधितिष्ठति श्रितो यः पृणाति सह देवेषु गच्छति। तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा (ऋग्० १,१२५, ५)

स्वर्ग की चोटी पर वह आनन्द से रहता है, जो (हवि और दक्षिणा) देता है, वह देवताओं में जा मिलता है, बहते हुए जल उस के लिए घी बहाते हैं, (अर्थात् सार वस्तुएं उस के लिए उपजाते हैं) यह दक्षिणा उस के लिए सदा तृप्ति करने वाली होती है।

दक्षिणावता मिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः। दाक्षिणा वन्तो अमृतत्वं भजन्ते दाक्षिणा वन्तः प्रतिरन्त आयुः ॥६॥

दक्षिणा वालों के ही ये सारे नाना प्रकार के भोग हैं, दक्षिणा वालों के ही द्यौ में सूर्य हैं, (उनमें उन के लिए दिव्य भोग हैं) दक्षिणा वाले (मरने के अनन्तर) अमर जीवन को पाते हैं दक्षिणा वाले (इस लोक में) आयु को बढ़ाते हैं।

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन् मा जारिषुः सूरयः

सुव्रतासः । अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिद पृणन्त-मभिसंयन्तु शोकाः ॥७॥

दानी दुःख दारिद्र्य में कभी न पड़ें, अच्छे व्रतों वाले स्तोता कभी न कुमलाएं, उन में भिन्न हरएक उन का परिधि (बाहर से आई चोट का सामना करके उन तक न आने देने वाला) हो, शोक उसी की ओर जाएं, जो दान से हीन है ।

ब्राह्मणमद्यविदेयं पितृमन्तं पैतृमत्य मृषिमार्षेय९ सुधातुदक्षिणम् । अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत (यजु० ७, ४६)

(दक्षिणा देने में यजमान की कामना—) मैं आज ऐसे ब्राह्मण को पाऊं, जो विख्यात पिता का पुत्र और विख्यात पितामहादि का पौत्र प्रपौत्र है, जो स्वयं ऋषि (मन्त्रों का व्याख्याता) है, और ऋषियों का वंशज है, जिस की दक्षिणा उत्तम धातु (सुवर्ण) है। हे हमसे दी हुई दक्षिणाओं तुम देवताओं में पहुंचो (और आगे देते रहने के लिए) दाता के (घर में) प्रवेश करती रहो ।

अग्नये त्वं मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमशीयायुर्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्व मशीय प्राणो दात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृ-तत्वमशीय त्वग्दात्र एधिमयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे यमा-

यत्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्व मशीय हयोदात्र एधि वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ॥ ४७ ॥

(ब्राह्मण के आशीर्वचन-† (हे सुवर्ण *) मुझ अग्नि स्वरूप (तेज से भखते हुए चेहरे वाले) के ताईं तुझे वरुण (शुचिव्रत यजमान) देवे, (इस विधि से ग्रहण करता हुआ) सो मैं अमृतत्व (अमर जीवन) को पाउं‡ । (हे दक्षिणे) तू दाता के लिए आयु हो, और मुझ प्रतिग्रहीता के लिए सुख रूप हो‡ (हे गौ) मुझ रुद्र (पाप के विरुद्ध भयंकर मूर्ति धारने वाले, गर्जते हुए) के ताईं तुझे वरुण देवे। सो मैं अमृतत्व को पाउं, तू दाता के लिए प्राण हो, और मुझ प्रतिग्रहीता के लिए शक्ति (वा आरोग्य) रूप हो। (हे वस्त्र) मुझ बृहस्पति (ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय) के ताईं तुझे वरुण देवे। सो मैं अमृतत्व को पाउं, तू दाता के लिए त्वचा हो, और मुझ प्रतिग्रहीता के लिए सुखरूप हो। (हे अश्व) मुझ यम (नियन्ता) के ताईं तुझे वरुण देवे। सो मैं अमृतत्व को पाउं। तू दाता के लिए घोड़ा स्वरूप हो, और मुझ प्रतिग्रहीता के लिए शक्तिरूप हो।

कोऽदात् कस्माअदात् कामोऽदात् कामायादात् कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत् ते।४८

---

* याज्ञिक प्रक्रियाऽनुसार ये चारों मन्त्र क्रमशः सुवर्ण, गौ, वस्त्र और अश्व की दक्षिणा लेने में पढ़े जाते हैं, इसलिए बन्धनी में हमने सुवर्ण आदि शब्द दिये हैं।

† इस प्रकार धर्म कार्यों के कराने से प्राप्त हुए धन से जीविका करते हुए ब्राह्मण देव लोक को पाते हैं।

‡ अर्थात् दाता आयुष्मान् हो, और मैं सुखी होउं।

किसने दिया, किस को दिया, काम ने दिया, काम को दिया, काम दाता है, काम प्रतिग्रहीता है। हे काम! यह (द्रव्य) तेरा है * ।

दान — दक्षिणा तो यज्ञ का प्रतिफल है । पर इस के विना भी दान के अवसर मनुष्य के लिए बहुत से हैं । आर्य-जीवन में दानसामान्य की प्रशंसापरक सूक्त दिया गया है । वहां मुख्यतया दान का लौकिक फल दिखलाया है, अब दिव्य फल दिखलाते हैं—

यद्दत्तं यत् परादानं यत् पूर्तं याश्च दक्षिणाः । तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधत् (यजु० १८ । ६४)

हमारा दान (धर्म जान स्त्री पुत्रादि के भरण पोषण और शिक्षा आदि में लगाया धन, तथा कन्या जामाता आदि को प्रीतिपूर्वक दी हुई वस्तु) और जो परादान (परोकार बुद्धि से दिया धन) जो पूर्त (स्वयं स्थापित की सार्वजनिक संस्थाएं विद्यालय, अनाथालय, आदि—वा उन में दिया धन) और जो दक्षिणा हैं, हमारे इस सब को विश्वकर्मा का अग्नि स्वर्ग में

---

* काम=कामना=लोड़ । यजमान यज्ञ की पूर्ति की कामना से ऋत्विजों को वरता है, और पलटे में दक्षिणा देता है, और ऋत्विज् अर्थ की कामना से उस को यज्ञ कराते हैं । यह सारा सौदा लोड़ का है। अतएव यजमान को दक्षिणा में दान का अभिमान नहीं करना चाहिये, और ऋत्विजों को दक्षिणा अमूला दान मान त्यागना नहीं चाहिये ॥

देवताओं के मध्य में स्थापन करे (अर्थात् ये सब परलोक में हमारे लिए फलें)।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा। इदं धनं निदधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः (अथर्व ११,१,२८)

(ब्राह्मणों को दान देने का दिव्य फल—) यह मेरा सुवर्ण जो अमर ज्योति है, यह पका हुआ (अन्न वा फल) जो क्षेत्र से (मैंने पाया है), और यह मेरी कामदुघा (कामनाओं को पूरने वाली) गौ, यह धन मैं ब्राह्मणों में स्थापन करता हूं, इस से मैं (अपने परलोक के लिए) वह मार्ग बनाता हूं, जो पितरों में स्वर्ग नाम से प्रसिद्ध है।

इदमोदनं निदधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्ग्यम्। स मे माक्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु (अथर्व ४।३४।८)

मैं इस विष्टारी (फैले हुए) ओदन को ब्राह्मणों में डालता हूं, जो लोक के जीतने वाला और स्वर्ग का साधक है। वह मेरा अपनी शक्ति से रसीला होता हुआ कभी क्षीण नहीं होगा, वह मेरी अनेक रूपों वाली कामदुघा धेनु बनेगा।

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते।१९।
गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।

तत् सर्वं मनुमन्यन्तां देवा ऋषभदायिने।२०(अथर्व ९।४)

जो ब्राह्मणों को ऋषभ (सांड बैल) देता है, वह अपने मन को श्रेष्ठ बनाता है, वह अपने गोष्ठ में गौओं की पुष्टि देखता है । १९. । (उस के घर) पशु हों, पुत्र हों, और शरीर का बल हो, हे देवताओ यह सब उस के लिए स्वीकार करो जो ऋषभ देता है ।

किन्तु ब्राह्मण को भी अपना भरण पोषण तो याजन वा अध्यापन की दक्षिणा से ही करना चाहिये, वा चिकित्सा वा कृषि आदि (जो सब की सांझी जीविका हो उस) से ही करना चाहिये । प्रतिग्रह परोपकार के कार्यों के लिए ही लेवे, अपने भरण पोषण के लिए प्रतिग्रह लेने से तेजो हीन हो जाता है। जैसा कि प्रतिग्रह दोष की शान्ति के लिए कहा है—

क इदं कस्मा अदात् कामः कामायादात्। कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमाविवेश । कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि कामै तत् ते (अथर्व ३।३०।७)

किसने यह किसको दिया है, काम ने काम को दिया है। काम दाता है, काम प्रतिग्रहीता है, काम समुद्र को प्राप्त है* ।

* "समुद्र इवहि कामः, नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति (तै० ब्रा० २।२।५।६) काम समुद्र की नाईं है, काम का अन्त नहीं है ।

काम से तुझे स्वीकार करता हूं, (न कि स्वयं) हे काम यह तेरा है।

भूमिष्ट्वा प्रतिगृह्णात्वन्त रिक्षमिदं महत्व ।
माहं प्राणेन मात्माना मा प्रजया प्रतिगृह्यविराधिषि । ८ ।

भूमिं तुझे स्वीकार करे, यह बड़ा अन्तरिक्ष तुझे स्वीकार करे, (अर्थात् यह धन मैं भूमण्डल के उपकार के लिए वा यज्ञ द्वारा वायु आदि की शुद्धि के लिए स्वीकार करता हूं) जिस से कि प्रतिग्रह ले करके मैं न प्राण से, न मन से, और न सन्तति से हीन होऊं * ।

पूर्त } ब्राह्मणों की दक्षिणा और दान से अतिरिक्त और जो सार्वजनिक दान हैं, वे पूर्त कहलाते हैं । जैसा कि कहा है—

वापी कूपतडागादि देवतायतनानिच ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्त मित्यभि धीयते ॥

बावलियां, कुंएं, तालाब आदि लगवाना, विद्यालय स्थापन करना, (दीन हीन और अनाथों को) अन्न देना (यात्रियों और सर्व साधारण के लिए मार्गों वा ग्रामादि के अन्दर वा समीप) बगीचे लगवाना यह पूर्त कहलाता है ॥ एक आर्य गृहस्थ के लिए यज्ञों की भांति इन पूर्त कर्मों का करना भी आवश्यक है—

---

* इस से स्पष्ट है, कि वृथा प्रतिग्रह लेने वाले की आयु घटती है, आत्मबल घटता है, और सन्तान संख्या और गुण दोनों में घटती है ।

पूर्णं नारि प्रभर कुम्भमेतं घृतस्य धारा ममृतेन संभृताम्। इमान् पातॄ नमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्त मभि-रक्षात्येनाम् (अथर्व ३।१२।८)

(गृह प्रवेश के समय का मन्त्र है) हे नारि इस पूर्ण कुम्भ को (घर में), ले चल, जो अमृत से भरी हुई घृत की धारा है। इन रक्षकों (घर वालों) को अमृत से पूरा २ प्रज्वलित कर, और इष्ट तथा पूर्त सदा इस शाला की रक्षा करते रहें।

पूर्त कर्मों का पारलौकिक फल } जैसे इष्ट कर्मों का मुख्य फल स्वर्गप्राप्ति है, पर अवान्तर फल लौकिक सुख भी है। इसी प्रकार पूर्त कर्म यद्यपि सामाजिक कर्म हैं, इन के विना समाज में सुख शान्ति की वृद्धि नहीं हो सकती, पर इन का फल भी निरा लौकिक नहीं, पारलौकिक भी है, जैसा कि—

संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वायावद्यं पुनरस्त मेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः (ऋग्० १०।१४।८)

(हे मृतक) तू अब परम आकाश में पितरों के साथ संगत हो, यम के साथ संगत हो, और अपने इष्ट और पूर्त के साथ संगत हो,* दोष को त्याग करके फिर घर (पृथिवी) में आ, और दीप्तिमान् तेरा आत्मा नए शरीर से संगत हो।

---

* मरने के पीछे इष्ट और पूर्त दोनों साथ जाते हैं "धर्मस्त मनुगच्छति"।

एतं जानीथ परमेव्योमन् देवः सधस्था विद रूपमस्य । यदा गच्छात् पथिभिर्देवयानै रिष्टापूर्ते कृणवाथाविरस्मै (यजु० १०।६०)

परम आकाश में साथ रहने वाले हे देवताओ ! इस (यजमान) को जानो, इस के रूप* को जानो । जब ये देवयान मार्गों से आवे, तो इस के इष्ट और पूर्त इसके लिए प्रकट करो ।

जानीतस्मैनं परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र । अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुता विरस्मै (अथर्व ६।१२३।२)

परम आकाश में साथ रहने वाले हे देवताओ ! इसको जानो, यहां (इस का) लोक जानो (इसे फल भोगने के स्थान दो) यह यजमान कुशल क्षेम से पीछे आवेगा, इस के लिए इष्ट और पूर्त प्रकट करो (इष्ट पूर्त के फल दो).

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपै तदूह यदिहाबिभः पुरा । इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु (अथर्व १८।२।५७)

यह तुझे अब मुख्य वस्त्र (नयाशरीर†) मिला है, अब उस को त्याग दे, जो तूने पहले धारण किया हुआ था । अपने इष्ट

---

* जो इस के मन पर रङ्ग चढा है ।

† 'वासांसि जीर्णानि' में शरीर को वस्त्र कहा है, और शरीर बदलने को चोला बदलना कहते हैं ।

और पूर्त को लक्ष्य में रख कर मोह रहित हुआ ऊपर चढ़, जहां तेरा वह (धन रक्खा) है, जो तूने अनाथों में दिया है।

सत्यवादी को पारलौकिक फल } सत्य बोलना भी सामाजिक धर्म है, इस लिए लोक के लिए तो अपेक्षित है ही, किन्तु परलोक का सुधार भी सच बोलने से ही होता है—

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणंदेवा उपासते। प्राणो ह सत्यवादिन मुत्तमे लोक आदधत् (अथर्व ११।६।११)

प्राण मृत्यु (मारने वाला) है, प्राण ज्वर (संतापकारी) है, प्राण को देवता उपासते हैं। प्राण सत्यवादी को निःसंदेह उत्तम लोक में स्थापन करता है॥

और जो सत्य विद्याओं का प्रचारक है, वह और भी बढ कर फलभागी होता है—

शतधारमुत्स मक्षीयमाणं विपश्चितं पितरं वक्त्वानाम्। मेळिं मदन्तं पित्रोरुपस्थे तं रोदसी पिपृतं सत्यवाचम् (ऋग्० ३।२६।९)

(नई २) अनेक विद्याओं का प्रकट करने वाला, प्रतिभा शाली विद्वान्, जो कि (मानों जाति और देश के लिए) सैंकड़ो धाराओं वाला, कभी न सूखने और कभी न घटने वाला स्रोत है, जो तेजस्वी है, और माता पिता (पृथिवी और द्यौ) की गोद में सदा मस्त रहता है, ऐसे सत्यवादी को हे द्यौ और पृथिवी तुम सदा पूर्ण करते रहो।

ब्राह्म और क्षात्र धर्मों के पारलौकिक फल } यज्ञ आदि की नाईं ब्राह्म और क्षात्र धर्म जो सामाजिक धर्म हैं, वे भी परलोक में उत्तम गति देने वाले हैं, अतएव मृतक के लिए यज्ञादि के तुल्य ही तप आदि के और रण में लड़ कर मरने आदि के लोक बतलाए हैं—

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १५४, ऋषि विवस्वान् की कन्या यमी, देवता यज्ञादि कर्म करने वालों की गति, छन्द अनुष्टुप्।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते। येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिद् देवापि गच्छतात् ॥१॥

कइयों के लिए सोम बहता है, कई घृत का सेवन करते हैं, और (तीसरे वे) जिन के लिए मधु दौड़ता है,* (हे मृतक के आत्मन्) तू उन को भी प्राप्त हो†।

तपसा येऽनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिद् देवापि गच्छतात् ॥२॥

वे, जो तप (आत्मबल) के कारण किसी से दबाए नहीं जा सकते, जो तप के कारण स्वर्ग में पहुंचे हैं, जिन्हों ने महिमा वाला तप किया है, उन को भी प्राप्त हो।

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः। ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिद् देवापि गच्छतात् ॥३॥

---

* जो सोम, घृत वा मधु से यज्ञ करते रहे हैं, अथवा जो इन को भोग रहे हैं, अर्थात् इन से किये यज्ञों का फल भोग रहे हैं।

† जिन उत्तम लोकों में वे रहते हैं, उन लोकों को प्राप्त हो।

जो शूरवीर संग्रामों में शत्रुओं को मारते हैं, और जो वहां शरीर त्यागते हैं, और जो सहस्र दक्षिणा वाले (यज्ञों के करने वाले) हैं, उन (सब) को भी प्राप्त हो। (युद्ध में सन्मुख लड़ता हुआ शत्रु को मारने वाला और मरने वाला दोनों उस गति को प्राप्त होते हैं, जिस को सहस्र दक्षिणा वाले यज्ञों के करने वाले यजमान पाते हैं)।

ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
पितॄन् तपस्वतो यम तांश्चिदेवापि गच्छतात् ।४।

और जो सब से पहले ऋत (सत्य धर्म) की थाह लाने वाले, ऋत से भरे हुए और ऋत के बढ़ाने वाले (प्रचारक) हुए हैं, तप से युक्त ऐसे पितरों को भी हे यम (मरे हुए के आत्मन्) प्राप्त हो।

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ।५।

(लोगों की भलाई के) सहस्रों मार्गों के जानने वाले कवि, जो सूर्य (वेद वा सत्यधर्म) के रखवाले हैं, तप से प्रकट हुए ऐसे तपस्वी ऋषियों को भी हे यम प्राप्त हो।

आत्मा के लिए इन गतियों की कामना करने से स्पष्ट है, कि इन कर्मों के करने वाले पुरुष मरकर उत्तम लोकों को प्राप्त होते हैं, इसलिए वेदोक्त सामाजिक कर्म केवल लोक में ही यशभागी नहीं बनाते, किन्तु परलोक भी सुधारते हैं। इस प्रकार

दिव्य धर्म और शुद्ध नीति धर्म दोनों दिव्य जीवन का प्रथम अङ्ग हैं ।

उपासना काण्ड ।

दिव्य जीवन का दूसरा अङ्ग उपासना है । उपासना का अक्षरार्थ है निकट बैठना, सेवन करना । यहां अभिप्रेत अर्थ है-परमात्मा के निकट बैठना अर्थात् परमात्मा को न भूलना, भूलना ही उससे परे हटना है, और न भूलना ही उस के निकट बैठना है। श्रद्धा, भरोसा, स्तुति प्रार्थना आदि इसके अङ्ग हैं ।

ईश्वर पर श्रद्धा } स त्वं न इन्द्र सूर्ये सो अप्स्वनागास्त्व आ भज जीवशंसे । मान्तरां भुजमा-रीरिषो नः श्रद्धितं महते इन्द्रियाय ।६।

अधामन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा चोदस्व महते धनाय । मानो अकृते पुरुहूत योना विन्द्र क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः (ऋ० १।१०४।६–७)

सो तू हे इन्द्र सूर्य (के प्रकाश) में, जलों में, निष्पाप जीवन में और मानुष जीवन की सच्ची कीर्ति में हमें भागी बना। हमारी भावी सन्तान को कभी हानि न पहुंचा, हम तेरी महती शक्ति के लिए श्रद्धा रखते हैं । ६ । मैं समझता हूं, कि हमने तेरे इस (बल) के लिए श्रद्धा की है, तू जो शक्तिमान् है, हमें बड़े धन के लिए उत्तेजित कर, हे पुरुहूत (सब से पुकारे जाने

वाले, हमें ऐसे घर में मत रख, जो संस्कृत और समृद्ध नहीं है (सजे धजे और धन धान्य से पूर्ण घर में हमें वास दे) हे इन्द्र ! जो भूखे हैं उन के लिए अन्न और रस दे ।

यं स्मा पृच्छन्ति कुहसेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् । सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त सजनास इन्द्रः (ऋ० २।१२।५)

जिस के विषय में पूछते हैं, कि वह कहां है, और यह भी, कि वह नहीं है, वह भयंकर ऐसे शत्रुओं (घमण्ड में दूसरों के स्वत्व छीनने वालों) की पुष्टियों को पक्षियों की नाईं मरोड़ डालता है, उस के लिए श्रद्धा रक्खो, हे लोगो वह इन्द्र है ।

ईश्वर पर भरोसा

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत । दधाना इन्द्र इद्दुवः (ऋ०१, ४, ५)

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः । स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥६॥

चाहे हमारे निन्दक कहें, कि तुम जो इन्द्र की ही पूजा करते हो (किसी और देवता की नहीं) सो तुम (यहां से और) अन्य स्थान से भी निकल जाओ । ५ । और चाहे धर्मात्मा जन हमें सौभाग्यवान् कहें, किन्तु हे अद्भुत कर्मों वाले ! इन्द्र हम तेरी ही शरण में रहें, (केवल तुझ ही को पूजने के कारण विधर्मी चाहे हमें कहीं भी टिकने न दें, तौ भी हम तुम्हें नहीं छोड़ेंगे और चाहे कितनी ही हमारी महिमा बढे, तुझे नहीं भूलेंगे)।

स्तुति और प्रार्थना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है।

जो परमेश्वर को अपना प्रियतम जानता है, और अनन्त महिमा वाला मानता है, उस का हृदय परमेश्वर की महिमा के अनुभव करने, और जिह्वा गाने में स्वतः सिद्ध प्रवृत्त होते हैं, और ज्यों २ वह परमात्मा की महिमा को गाता है, त्यों २ उस का प्रेम बढता है, हृदय प्रफुल्लित होता है, और वह परमेश्वर की कृपा का पात्र बनता है। और जब वह ऐसे दयालु परमेश्वर से अपना सीधा सम्बन्ध अनुभव कर लेता है, तो वह पुत्र की तरह माता पिता से, भाई की तरह भाई से और सखा की तरह सखा से अपनी हरएक अभिलषित वस्तु अपने परमेश्वर से दावे के साथ मांगता है, और पाता है। इस से उस का भरोसा बढता है, और भरोसे के साथ काम करने में जल्दी सफलमनोरथ होता है, और उधर परमेश्वर का कृपापात्र होने से परमात्मा स्वयं उस की विघ्न बाधाओं को दूर करके उस का योग क्षेम सम्पादन करते हैं। इस प्रकार ये दोनों भाव ईश्वर पर श्रद्धा रखने वाले के हृदय में स्वभावतः उत्पन्न होते हैं, और दोनों उस का मुख परमेश्वर की ओर मोड़ कर उसको सीधे मार्ग पर डाल देते हैं, और परमेश्वर से मिलाते हैं। इन दोनों में से ईश्वर की महिमा का गाना स्तुति कहलाती है, और मांगना प्रार्थना कहलाती है। मनुष्य के इन दोनों उच्च भावों को वेद में पूर्ण रूप में दिखला दिया है। जैसा कि—

स्तुति } 'हिरण्यगर्भ सूक्त' (ऋग्० १० । १२१) जो स्तुतिप्रधान प्रसिद्ध सूक्त है, वह वेदोपदेश में दिया गया है, यहां एक और सूक्त देते हैं। ऋग् मण्डल २। सूक्त १२।

ऋषि गृत्समद, छन्द त्रिष्टुप्, देवता इन्द्र

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत। यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मन्हा स जनास इन्द्रः ॥ १ ॥

वह, जो उदार गम्भीर परम देव स्वभाव से ही अपनी शक्ति के साथ सब देवताओं (सूर्य आदि) को भूषित कर रहा है, जिस के बल से द्यौ और पृथिवी कांपते हैं, जिस के शौर्य की महिमा से कांपते हैं, हे जनो वह इन्द्र है।

यः पृथिवीं व्यथमाना मदृंहयद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्। यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् सजनास इन्द्रः। २।

जिस ने (आदि में पिघली हुई होने के कारण) लहराती हुई पृथिवी को दृढ़ जमा दिया, और जिस ने प्रकुपित हुए (आदि में अग्नि वर्षण करते हुए) पर्वतों को शान्त किया, जिस ने अन्तरिक्ष को बड़ा विशाल बनाया है, जिस ने द्यौ को धारण किया है, हे मनुष्यों वह इन्द्र है।

यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिन्धून् यो गा उदाज दपधा बलस्य। यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः।

जो मेघ को मार कर सात नदियों को बहाता है, जो बल (मेघ) गुफा से गौओं (रश्मियों) को निकालता है,

जो दोनों पत्थरों के मध्य में अग्नि को उत्पन्न करता है, * जो संग्रामों में (विरोधियों का) काटने वाला है, हे मनुष्यो वह इन्द्र है।

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्ण मधरं गुहा कः। श्वघ्नीव यो जिगीवाँल्लक्षमा ददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः।

जिस ने इन सब भुवनों को गतिशील बनाया है, जो दास वर्ण (सेवा वृत्ति वा दस्यु वृत्ति समुदाय) को नीचे गुफा में डालता है। * जो शिकारी की भांति लक्ष को जीत कर शत्रु के पुष्ट (धन धान्य) को ले लेता है, हे मनुष्यो वह इन्द्र है।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोर मुतेमा हुर्नैषो अस्तीत्येनम्। सो अर्यः पुष्टी र्विज इवामिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः।५।

जिस के विषय में पूछते हैं, कि वह कहां है, और कई यहां तक कहते हैं, कि वह नहीं है, वही है, जो कि भयंकर बन कर ऐसे शत्रुओं (घमण्ड में उस की प्रजा को पीडित करने वालों) की पुष्टियों को पक्षियों की नाईं मरोड़ डालता है, उस के लिए श्रद्धा रक्खो, हे मनुष्यो! वह इन्द्र है।

---

* पृथिवी और द्यौ के मध्य में विद्युत् को उत्पन्न करता है।

† दास वृत्ति वालों के भाव उच्च नहीं रहते, इस लिए दास वृत्ति निन्दित है।

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः। युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः। ६।

निर्धन को, दुर्बल को, ब्राह्मण को, और याचना करते हुए अपने स्तोता को प्रेर कर आगे ले जाता है, (ऊंचा उठाता रहता है), जो सुन्दर चेहरे वाला (प्रिय दर्शन) ग्रावों (सोम रस निकालने के पत्थरों) को जोड़ कर सोमरस निकालने वाले (यजमान) का सहायक है, हे मनुष्यो वह इन्द्र है।

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः। यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः। ७।

जिस के प्रबल शासन के अन्दर घोड़े हैं, रथ हैं, गौएं हैं, और ग्राम हैं (जिस के शासनाधीन यह सब मिलता है), जो (हमारे लिए) सूर्य को और उषा को उत्पन्न करता है, जलों का नेता है (हमारे लिए जल बरसाता है) हे मनुष्यो वह इन्द्र है।

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परे वर उभया अमित्राः। समानं चिद् रथमात स्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः। ८।

आपस में जुटी हुई दोनों सेनाएं जिस एक ही को पुकारती हैं, बड़े और छोटे (प्रबल और दुर्बल) दोनों शत्रु जिस

को पुकारते हैं, एक ही रथ पर चढ़े हुए (योद्धा और सारथि) दोनों जिस को अलग २ पुकारते हैं, हे मनुष्यो वह इन्द्र है।

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते। यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः।९।

जिस की सहायता के बिना हमारे सैनिक कभी विजय नहीं पा सकते, युद्ध करते हुए (योद्धा) जिस को सहायता के लिए बुलाते हैं, जो सारे विश्व का संचालक है, जो न हिलने वालों का हिलाने वाला है, हे मनुष्यो वह इन्द्र है।

यः शश्वतो मह्येनो दधाना नमन्यमानाञ्छर्वा जघान। यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः।१०।

जिस ने बड़े २ पापी बहुत से नास्तिकों को अपने वज्र से हनन किया है, जो घमंड दिखलाने वाले के शौर्य को निष्फल बना देता है, जो दस्यु का मारने वाला हैं, हे मनुष्यो वह इन्द्र है।

यः शंबरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्। ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः।११।

जिस ने पर्वत में निवास करते हुए शंबर को चालीसवें

वर्ष ढूंढ पाया, * जिस ने अपने बल बढ़ाते हुए (चारों ओर) छाए हुए) दानी मेघ को मार गिराया है मनुष्यो वह इन्द्र है।

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून् । यो रौहिणमस्फुरद् वज्रबाहुर्द्यामा रोहन्तं स जनास इन्द्रः ।१२।

जो सात रश्मियों वाला शक्तिमान् वीर सात बड़े प्रवाहों को स्वतन्त्र बहने के लिए खोल देता है, और जिसने अपनी भुजाओं में वज्र धारण करके द्यौ की ओर चढ़ते हुए रौहिण को टुकड़े कर दिया है मनुष्यो वह इन्द्र है।

द्यावाचिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते । यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः । १३ ।

द्यौ और पृथिवी जिस के लिए झुकते हैं (जिस की आज्ञा मानते हैं) जिस के बल से पर्वत कांपते हैं, जो सोम को स्वीकार करने वाला बड़ा दृढ़ भुजा में वज्र को धारे हुए वज्र

---

* सम्भवतः आदि सृष्टि के सम्बन्ध में किसी घटना विशेष से अभिप्राय है।

† इस मन्त्र में इन्द्र की उस महिमा का वर्णन है; जो वृष्टि जल भेज कर वे हमारा पालन पोषण करते हैं, सात रश्मियें सात प्रकार के मेघ तैत्तिरीयारण्यक के प्रथम प्रपाठक में ये कहे हैं—(१) वराह (२) स्वतपस् (३) विद्युन्महस् (४) धूपि (५) श्वापि (६) गृहमेध और शिमिविद्विष्। सात प्रवाह इन सातों प्रकार के मेघों से जो जल धारायें आती हैं। रौहिण वृष्टि के रोकने वाले तत्त्व।

को हाथ में उठाए हुए है* हे मनुष्यो वह इन्द्र है।

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती। यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः। १४।

जो अपनी शरण देकर उस की रक्षा करता है, जो उस के लिए सोमरस बहाता है, वा (पुरोडाश) पकाता है, वा स्तोत्र पढता है, वा दान देता है। हमारा स्तोत्र जिस की महिमा बढाता है, यह सोम जिस की महिमा को बढाता है, और यह हवि-जिस को बढाती है, हे मनुष्यो वह इन्द्र है।

यः सुन्वते पचते दुध्र आचिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः। वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमावदेम। १५।

जो भयंकर इन्द्र सोम बहाने वाले और पुरोडाश पकाने वाले यजमान के लिए बड़ा बल भेजता है, वह निःसंदेह सत्य है। हे इन्द्र हम तेरे प्यारे बन कर अपने वीरों समेत सदा तेरे गीत गाते रहें।

स्तुति प्रार्थना } ऋग्वेद मण्डल २ सूक्त २३ ऋषि गृत्समद। देवता ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति। छन्द १५,१९ का त्रिष्टुप्, शेष जगती।

---

* द्यौ और पृथिवी इस प्रकार भयभीत हो कर उस की आज्ञा को मानते हैं, मानों वह वज्र उठाए उन के सिर पर खड़ा है।

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीना मुपमश्रव स्तमम् । ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आनः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् । १ ।

हे ब्रह्मणस्पते ! * तुत जो दलों के स्वामी और नेता हो, ऋषियों के ऋषि हो, और जिन का यश दूसरों के लिए उपमान (आदर्श) है उन सब से बड़े हो, और मन्त्रों के बड़े राजा हो, हम तुम्हें बुलाते हैं, हमारी प्रार्थनाओं को सुनते हुए अपनी रक्षाओं के साथ हमारे घर (यज्ञ गृह) में आ विराजो।

देवाश्चित्ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियं भाग मानशुः । उस्रा इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषा मिज्जनिता ब्रह्मणा मसि । २ ।

हे बृहस्पते ! हे बल दातः ! देवताओं ने भी तुझ से भाग

---

* ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति दोनों पर्याय शब्द हैं। ब्रह्मणस्पति=मन्त्रों का अधिष्ठाता। बृहस्पति=वाणी=वेदवाक् का अधिष्ठाता। जिस ने ऋषियों को मन्त्र दिये, और जो इन मन्त्रों में कही प्रार्थनाओं को सुनता है और फल देता है । भक्ति के सच्चे और प्रबल आवेश में जब ऋषि परमात्मा के ही हो गए, तब परमात्मा ने उन पर अपना प्रभाव डाल कर जो कुछ उन से कहलवाया, उन्हीं दिव्य मन्त्रों वा मन्त्रोक्त प्रार्थनाओं का नाम ब्रह्म है। परमात्मा जो उन का बडा राजा है, वह ब्रह्मणस्पति है । अब भी जो कोई उसी सच्चे आवेश में देवता को पुकारता है, ब्रह्मणस्पति उस को सुनते हैं, और उस के मनोरथ पूर्ण करते हैं।

पाया है। तू ही अकेला सारे मन्त्रों का प्रकट करने वाला है, जैसे अकेला सूर्य अपनी बड़ी ज्योति से किरणों का।

आविबाध्या परिरापस्तमांसि च ज्योतिष्मन्तं रथमृतस्य तिष्ठसि। बृहस्पते भीम ममित्रदम्भनं रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम्। ३।

हे बृहस्पते! तुम दुर्वचनों और अविद्याओं को भगा कर ऋत (सृष्टि नियम) के रथ पर चढ़ते हो, जो प्रकाश से पूर्ण है, (पापियों के लिए) भयंकर है, शत्रुओं का नाश करने वाला, राक्षसों का मारने वाला, रश्मियों के स्थानों का खोलने वाला और दिव्य प्रकाश का प्राप्त कराने वाला है।

तात्पर्य–ऋत (नियम) जिस का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता, जो सदा नीचों को नीचे दबाता, और भलों को उभारता रहता है, यह ऋत परमात्मा का रथ है।

सुनीतिभिर्नयसि त्रायसे जनं यस्तुभ्यं दाशान्नतमंहो अश्नवत्। ब्रह्मद्विषस्तपनो मन्युमीरसि बृहस्पते महितत्ते महित्वनम्। ४।

तुम अपने जन को सुनीतियों से चलाते हो, और उस की रक्षा करते हो, जो तेरे लिए देता है, उस को दरिद्रता नहीं छूती। तू ब्रह्म (मन्त्रों) के द्वेषियों का तपाने वाला है, उन के क्रोध का नाशक (उखाड़ने वाला) है, हे बृहस्पते! तेरी यह बड़ी महिमा है।

न तमंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस्तितरुर्न द्वयाविनः । विश्वा इदस्माद् ध्वरसो विबाधसे यं सुगोपा रक्षसि ब्रह्मणस्पते । ५ ।

उस को न किसी ओर से शोक प्राप्त होते हैं, न दुःख, न उस को शत्रु दबाते हैं, न वञ्चक । सारे बहकाने वालों को उस जन से तुम परे हटाते रहते हो, जिस के रक्षक बन कर हे ब्रह्मणस्पते तुम स्वयं रक्षा करते हो ।

त्वं नो गोपाः पथिकृद्विचक्षण स्तव व्रताय मतिभिर्जरामहे । बृहस्पते यो नो अभिह्वरो दधे स्वा तं मर्मर्तु दुच्छुना हरस्वती । ६ ।

तुम सर्वज्ञ हो, हमारे रक्षक हो, हमारे मार्ग बनाने वाले हो, तेरे व्रत पर चलने के लिए हम स्तोत्रों से तेरी स्तुति गाते हैं । हे बृहस्पते ! जो कोई हमारे लिए कुटिलता बर्तता है (सीधे मार्ग से भटकाना चाहता है, वा आपद में फंसाना चाहता है, वा कुछ छीनना चाहता है), उस को उस की अपनी ही दुर्बुद्धि वेगवती हो कर सिर के बल गिरावे ।

उत वा यो नो मर्चयादनागसोऽरातीवा मर्तः सानुको वृकः । बृहस्पते अप तं वर्तया पथः सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि । ७ ।

और जो कोई घमण्डी भेडिया मनुष्य (दाव घात कर झपटने वाला) हम निरपराधियों को तङ्ग करता है, उस को

हे बृहस्पते हमारे मार्ग से परे हटा, और हमारे इस देवभोग (यज्ञ, वा भलों के भोग्य) के लिए हमारा मार्ग सुगम (कांटों से रहित) बनादे।

त्रातारं त्वा तनूनां हवामहेऽवस्पर्तरधि वक्तार मस्मयुम्। बृहस्पते देव निदो निबर्हय मा दुरेवा उत्तरं सुम्न मुन्नशन्।७।

हे बचाने वाले! शरीरों (घर के लोगों) के रक्षक सच्चा और उत्तम उपदेश देने वाले, हमें प्यार करने वाले तुझ को हम बुलाते हैं। हे बृहस्पते! देवताओं के निन्दकों को नीचे गिरा, टेढ़ी चालों वाले ऊंचे सुख को न पाएं।

त्वया वयं सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या ददीमहि। या नो दूरे तळितो या अरातयोऽभिसन्ति जम्भया ता अनप्नसः।९।

तुम जो उत्तम वृद्धि देने वाले हो, तुम्हारे साथ हम मनुष्य के उन धनों को प्राप्त करें, जो सब के लिए स्पृहणीय हों, हमारे वे सारे शत्रु जो दूर और निकट हुए हम पर दबाव डालते हैं, उन कर्महीनों को नाश कर डाल।

त्वया वय मुत्तमं धीमहे वयो बृहस्पते पप्रिणा सस्निना युजा। मानो दुःशंसो अभि दिप्सुरी शत प्रसुशंसा मति भिस्तारिषीमहि।१०।

तुम जो परिपूर्ण और उदार साथी हो, तुम्हारे साथ हे

बृहस्पते ! हम उत्तम आयु धारण करें, दुर्जन वञ्चक हमारे ऊपर कभी प्रबल न आवे, तेरे स्तोत्र गाते हुए हम बढ़ते चलें।

अनानुदो वृषभो जग्मिरा हवं निष्टप्ता शत्रुं पृतनासु सासहिः। असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पत उग्रस्य चिद् दमिता वीळुहर्षिणः।

जिस के समान कोई दाता नहीं, शक्तिमान् (अपने जनों की) पुकार पर पहुंचने वाले, शत्रु को तपा डालने वाले, संग्रामों में सदा विजयी होने वाले हो, हे ब्रह्मणस्पते ! तुम सच्चे बदला चुकाने वाले हो, दृढ़ क्रोधी उग्र पुरुष को भी सीधा कर देने वाले हो।

अदेवेन मनसा यो रिषण्यति शासामुग्रो मन्यमानो जिघांसति। बृहस्पते मा प्रणक् तस्य नो वधो निकर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः। १२।

ईश्वर से विमुख मन के साथ जो कोई हमें हानि पहुंचाना चाहता है, और शासकों में से मनमुखी (अपनी ही मानने वाला) भयंकर जो हमें मारना चाहता है, उस का शस्त्र हे बृहस्पते ! हमें स्पर्श न करे, प्रबल आते हुए टेढ़ी चाल वाले के क्रोध को हम मिटा डालें।

भरेषु हव्यो नमसोपसद्यो गन्ता वाजेषु सनिता धनं धनम्। विश्वा इदर्यो अभिदिप्स्वो मृधो बृहस्पतिर्विववर्हा रथाँ इव। १३।

संग्रामों में पुकारने योग्य, आदर से निकट जाने योग्य,

शक्ति के कार्यों में पहुंचने वाला, सब प्रकार के धनों का जीतने (वा बांटने) वाला, बृहस्पति शत्रु की सारी वञ्चक सेनाओं को रथों की नाईं दूर फैंक देता है।

तेजिष्ठया तपनी रक्षसस्तप ये त्वा निदे दधिरे दृष्टवीर्यम् । आविस्तत् कृष्व यदसत्त उक्थ्यं बृहस्पते विपरिरापो अर्दय । १४ ।

। जलती हुई बड़ी तीक्ष्ण ज्वाला के साथ उन राक्षसों को तपा, जो तेरी शक्ति को देखते हुए भी निन्दा (इन्कार) के लिए तय्यार होते हैं। उस बल को प्रकट कर, जो तेरे स्तोत्र के योग्य है, हे बृहस्पते अपवाद और निन्दा करने वालों को पीड डाल।

बृहस्पते अतियदर्यो अर्हाद् द्युमद् विभाति क्रतुमज्जनेषु । यद्दीदयच्छवस ऋतप्रजात तदस्मासु द्रविणं धेहि चित्रम् । १६ ।

हे बृहस्पते! ब्राह्मण जिस (ब्रह्मवर्चस) का दूसरों से बढ कर अधिकारी है, जो मनुष्यों में प्रभावशाली और दीप्तिमान् हो कर चमकता है, जो अपने बल से देदीप्यमान होता है, हे सृष्टि के अटल नियमों में चमकने वाले! उस आश्चर्यमय धन (ब्रह्मवर्चस) को हम में धारण कर।

मा नः स्तेनेभ्यो ये अभिद्रुहस्पदे निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जागृधुः । आ देवाना मोहते विव्रयो

हृदि बृहस्पते न परः साम्नो विदुः । १६ ।

हमें उन चोरों के वश में कभी न डाल, जो (मनुष्यमात्र) के शत्रु घात के स्थान में बैठकर शान्त पुरुष के भोगों में, लालसा करते हैं, जो अपने हृदयों में देवताओं का त्याग लाते हैं, हे बृहस्पते वे अन्त में आनन्द नहीं भोगेंगे ।

विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस्परि त्वष्टा जनत् साम्नः साम्नः कविः । स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पति र्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि । १७ ।

हरएक साम का जानने वाला त्वष्टा (ऊहा पोह वाला कवि) तुझे सारे भुवनों से ऊपर प्रकट करता है, वह ब्रह्मणस्पति महिमा वाले ऋत के धारने वाले (अपने जन) के लिए ऋण का मिटाने वाला, बदला चुकाने वाला और शत्रुओं का हनन करने वाला हो ।

तव श्रिये व्यजिहीत पर्वतो गवां गोत्र मुदसृजो यदङ्गिरः । इन्द्रेण युजा तमसा परीवृतं बृहस्पते निरपामौब्जो अर्णवम् । १८ ।

हे जीवन देने वाले ! मेघ तेरी महिमा के लिए खुलता है, जब कि तू धाराओं के स्रोत को छोड़ता है । अपने साथी इन्द्र के साथ युक्त हो कर तू हे बृहस्पते जलों के प्रवाह को नीचे की ओर बहाता है, जो पहले अन्धेरे से घिरा हुआ होता है ।

ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं

च जिन्व । विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः । १९ ।

हे ब्रह्मणस्पते तुम इस जगत् के नियन्ता हो, हमारे सूक्त को अपनाओ, और हमारी सन्तति को वृद्धि दो, वह सब कल्याण लाने वाला होता है, जिस को देवता रक्षा करते हैं, सो हम यज्ञों में पुत्र पोतों समेत उच्च स्वर से तुम्हारे गीत गाते रहें ।

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ११४ ऋषि कुत्स, देवता रुद्र, छन्द, १० और ११ का त्रिष्टुप्, शेष सब का जगती ।

इस सूक्त से स्वास्थ्य की रक्षा, और रोगों की निवृत्ति के लिए प्रार्थना और हवन करना चाहिये ।

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः । यथा शमसद्द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम् । १ ।

बल में बढे हुए, भयंकर रूप, अपने वीरों को ऐश्वर्य देते हुए* रुद्र के लिए हम ये स्तोत्र पढते हैं, कि वह हमारे मनुष्यों और पशुओं के लिए कल्याणकारी हो, जिससे कि इस ग्राम में सब के सब नीरोग हो कर हृष्ट पुष्ट हों।

मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते । यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु । २ ।

---

* अथवा वीरों पर शासन करते हुए।

हे रुद्र ! हमारे ऊपर दया करो और हमारे लिए सुख भेजो, तुम जो अपने वीरों को सदा ऐश्वर्य देते रहते हो, हम तुम्हें नमस्कार करते और हवि देते हैं, आदि मनुष्य हमारे पिता ने जो स्वस्थता और रोगनिवृत्ति याग से प्राप्त की थी, उसी का हे रुद्र हम उपभोग करें–तेरी प्रेरणाओं में चलते हुए।

अश्याम ते सुमतिं देवयज्यया क्षयद्वीरस्य तव रुद्र मीढ्वः । सुम्नायन्नि द्विशो अस्माक माचरारिष्ट-वीरा जुहुवाम ते हविः । ३ ।

हे रुद्र ! हे सुखों की वरसात लाने वाले ! हम देवयज्या (देवताओं के लिए होम) से तेरी कृपा का उपभोग करें, जिस के वीर सदा ऐश्वर्य पाते हैं, हमारे लोगों में सुख और अरोगता लाते हुए विचरो, जिस से कि हम अक्षत पुत्र पौत्रादि के साथ मिल कर तेरे लिए हवि होमें।

त्वेषं वयं रुद्रं यज्ञसाधं वंकुं कवि मवसे निह्वयामहे । आरे अस्मद्दैव्यं हेडो अस्यतु सुमतिमिद्वय मस्या वृणीमहे । ४ ।

तेज से चमकते हुए, यज्ञ के पूर्ण करने वाले, सर्वज्ञ, सर्वत्र पहुंचने वाले,रुद्र को हम अपनी ओर बुलाते हैं वह देवताओं के प्रकोप को हम से दूर करे, हम उस की दयादृष्टि की प्रार्थना करते हैं।

दिवो वराह मरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसा निह्वयामहे । हस्ते बिभ्रद्भेषजा वार्याणि शर्म वर्म-

च्छर्दि रस्मभ्यं यंसत् ।५।

शूरवीर, चमकते हुए, तेज से दीप्यमान, भयंकररूप रुद्र को हम द्यौ (निरुपद्रव सुख शान्ति के स्थान) से नमस्कार और हवि के साथ अपनी ओर बुलाते हैं, वह उत्तम औषधों को हाथ में धारण किये हुए आकर हमें स्वस्थता, कवच (रोगों के प्रहार से बचने की शक्ति) और सुरक्षा का स्थान देवे।

इदं पित्रे मरुता मुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय वर्धनम् । रास्वा च नो अमृत मर्तभोजनं त्मने तोकाय तनयाय मृळ । ६ ।

यह स्तोत्र, जो मधुर से मधुरतर, और शक्ति के बढ़ाने वाला है, यह रुद्र- जो मरुतों (रोगनिवारक, आंधियों-वायु प्रवाहों) का पिता है, उस के लिए पढ़ा जारहा है, हे अमृत! हमारे लिए मनुष्य के सारे भोग प्रदान कर, मेरे लिए, मेरी सन्तान के लिए, और उन की सन्तान के लिए दयालु हो।

मानो महान्त मुत मा नो अर्भकं मान उक्षन्त मुत मा न उक्षितम् । मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः । ७ ।

हे रुद्र ! हमारे वृद्ध और हमारे बच्चों को हानि न पहुंचा, न यौवन की ओर बढ़ते हुए और न बढ़कर पूरे युवा हुए को हानि पहुंचा, न हमारे पिता न माता को हानि पहुंचा, हे रुद्र ! हमारे प्यारे शरीरों (स्त्री पुत्र भ्राता पिता बन्धु बान्धव इष्ट मित्रों) को कभी हानि न पहुंचा।

मानस्तोके तनये मान आयौ मानो गोषु मानो अश्वेषु रीरिषः । वीरान्मानो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे ॥ ८ ॥

हे रुद्र ! न हमारे पुत्रों में, न अगली सन्तति में, न हमारे अपने जीवन में, न हमारी गौओं में और न घोड़ों में हानि पहुंचा, हे रुद्र ! क्रुद्ध हो कर हमारे वीरों को हानि न पहुंचा, हम हवि देते हुए सदा ही तुझे बुलाते हैं ।

उप ते स्तोमान् पशुपा इवाकरं रास्वा पितर्मरुतां सुम्नमस्मे । भद्रा हि ते सुमति मृळयत्तमाथा वयमव इत्ते वृणीमहे । ९ ।

पशुओं के रखवाले की नाई* मैं अपने स्तोत्र तेरे निकट लाया हूं हे मरुतों के पिता हमें सुख शान्ति प्रदान कर, कल्याण लाने वाली तेरी अनुग्रह दृष्टि सब से बढ़कर सुख देने वाली है, अतएव हम तेरी ही सहायता मांगते हैं ।

आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्ते ते अस्तु । मृळा च नो अधि च ब्रूहि देवा धा च नः शर्म यच्छ द्विबर्हाः ॥ १० ॥

---

* पशु का रखवाला जैसे पशुओं की भलाई की कामना रखता है, वैसे ही दूसरों की भलाई की कामना से मैं तेरे स्तोत्र गा रहा हूं, न कि स्वार्थ से ।

पशुओं और पुरुषों को मारने वाला तेरा अस्त्र हमसे दूर हो, हे वीरों को ऐश्वर्य देने वाले! तेरा कल्याण हमारे लिए हो। हे देव हम पर दयालु हो, और हमें आशीर्वाद दे, और दुगनी शक्ति धार कर हमें अपनी शरण दे।

अवो चाम नमो अस्मा अवस्यवः शृणोतु नो हवं रुद्रो मरुत्वान्। तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौ। ११।

सहायता चाहते हुए हम इस को नमोवचन कहते हैं, मरुतों से युक्त रुद्र हमारी इस पुकार को सुने, (स्वीकार करे), मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्यौ मेरे इस वचन (वा कामना) को पूरा २ आदर दें (सफल बनावें)।

परमात्मा में अनन्य भक्ति का निदर्शन और उच्च जीवन के लिए प्रार्थनाएं–

ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ८९, देवता वरुण, छन्द गायत्री ५ वीं ऋचा का जगती।

मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय। १।

हे राजन् वरुण! मैं मट्टी के घर में न जाऊं, दया कर हे सुन्दर शासन बल वाले! कृपा करो।

तात्पर्य—यहां परमात्मा को राजा के रूप में अनुभव किया गया है, जिस का शासनबल बहुत बड़ा है, और निरा लोगों की भलाई के लिए है, स्वार्थ उस में नाममात्र भी नहीं। ऐसे

राजा के राज्य में प्रजा क्यों मट्टी के घरों में रहे, क्यों न उन के सोने के घर हों । मट्टी के घरों से अभिप्राय दरिद्रता और पाप जीवन से है । सचमुच जो परमात्मा को अपना राजा अनुभव कर लेता है, वह दरिद्रता से और पाप से बचा रहता है ।

यदेमि प्रस्फुरन्निव दृतिर्न ध्मातो अद्रिवः ।

मृळा सुक्षत्र मृळय । २ ।

हे वज्र वाले! मैं जो वायु से भरी हुई मशक की नाईं फूला फिरता हूं, (व्यर्थ घमण्ड में फिरता हूं, वा व्यर्थ चिन्तन से भरा रहता हूं) उस पर दया करो हे सुन्दर शासनबल वाले कृपा करो ।

आत्मबल के लिए प्रार्थना, जिससे हम में पाप से बचने का सामर्थ्य आए ।

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे ।

मृळा सुक्षत्र मृळय । ३ ।

हे महिमा वाले हे पवित्र वरुण ! आत्मबल की दीनता से मैं उलटा चला गया, दया करो हे सुन्दर शासन बल वाले कृपा करो ।

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।

मृळा सुक्षत्र मृळय । ४ ।

जलों के मध्य में ठहरे हुए मुझ तेरे स्तोता को प्यास घेरे हुए है (तेरी महिमा के प्रवाह के अन्दर रह कर भी मैं तेरे प्रेम से कोरा रहा हूं) दया करो हे सुन्दर शासनबल वाले कृपा करो ।

यत् किञ्चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या-श्चरामसि। अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मानस्त-स्मादेनसो देव रीरिषः। ५।

हे वरुण मनुष्य होने के कारण देवताओं के सम्बन्ध में जो कुछ हमने भूल की है, और अज्ञान से जो कुछ तेरी आज्ञा भंग की है, हे देव ! उस पाप से हम को हानि न पहुंचा।

उपासना } उपासना का अक्षरार्थ है—निकट बैठना। सो परमात्मा की उपासना हुई परमात्मा के निकट बैठना=निकट स्थित होना, पर परमात्मा के निकट तो पुरुष हुई है, क्योंकि परमात्मा अन्दर बाहर सारे पूर रहा है, फिर उस के निकट बैठने से क्या अभिप्राय हुआ ! अभिप्राय यह है, कि यद्यपि वह अन्दर बाहर सारे पूर रहा है, तथापि वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होने से दृष्टिगोचर नहीं है। सो जब पुरुष उस को देखता नहीं है, तो वह मानो परमात्मा के निकट रहता हुआ भी उस से दूर पड़ा है, इस दूरी को दूर करके उस के निकट बैठने का नाम उपासना है। अब प्रश्न यह है, कि यह दूरी कैसे दूर हो, क्योंकि जब वह नेत्र का विषय ही नहीं, तो मनुष्य उसको कभी नेत्र से देख सकेगा ही नहीं, फिर यह दूरी क्यों कर दूर होगी ! उत्तर यह है, कि यद्यपि उस का स्वरूप कभी दृष्टिगोचर नहीं हो सकता, तथापि उस की महिमा सर्वदा दृष्टिगोचर हो सकती है। सारा ही विश्व उस की महिमा का प्रकाशक है, हृदय अनुभवी चाहिये, फिर सर्वत्र सर्वदा उस की महिमा ही महिमा दीखने लगती है, जल में उस की महिमा, थल में उस

की महिमा, आकाश में उस की महिमा, पृथिवी में उस की महिमा, नदियों में उस की महिमा, पर्वतों में उस की महिमा, काली घटाओं में उस की महिमा, पानी की बूंदों में उस की महिमा, निदान—

दर दीवार दर्पण भये जित देखूं तित तोहे ।
कांकर पाथर ठीकरी भये आरसी मोहे ॥

यही दिव्य दृष्टि—जो कि विषण्ण हुए अर्जुन को कुरुक्षेत्र में श्री भगवान् ने दी थी ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे रूप मैश्वरम् ।

इस से परमात्मा साक्षात् ईश्वररूप में दीखते हैं । इसी रूप को उपासक प्रेममग्न हो कर साक्षात् करते २ दृष्टि से दीखने वाले जगत् को ओझल करके अन्तरात्मा के स्वरूप में पहुंच जाते हैं, जो मन वाणी की पहुंच से परे हैं, जिस से परे कुछ जानने योग्य नहीं है । वह अव्यक्त रूप उपासना के पीछे जाना जाता है, पर उपास्य वह पहले ही इस व्यक्त रूप में है ।

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः । उतोऽसन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते (अथर्व १० । ७ । २१)

पहुंचे हुए जन उस स्वरूप को सब से परे जानते हैं, जो व्यक्त नहीं है, और जो उन से छोटे हैं (पहुंचने का यत्न कर रहे हैं) वे व्यक्त को मानते हैं, और वे इस रूप को उपासते हैं ।

इस प्रकार उपासक जब इस विश्व को परमेश्वर की महिमा से पूर्ण देखता है, तो वह अपने उपास्य को सदा अपने अङ्ग संग देखता है, यही उस के पास बैठना है । जो हरएक व्यवहार में परमात्मा को अपने अङ्ग संग देखता है, वह तो व्यवहार में लगा हुआ भी परमात्मा की उपासना कर रहा है, अतएव उपासना का किसी भी कर्तव्य के साथ विरोध नहीं, तथापि उपासना के विशेष अवसर ये हैं ।

स्तुति प्रार्थना और उपासना } परमेश्वर की महिमा के स्तोत्र पढ़ते समय ऐसे प्रेममग्न हो कर पढ़ो, कि उस समय और सभी कुछ भूल जाओ, यहां तक कि अपने आपको भी भूल जाओ, और जब प्रार्थना करो; तो मन की भावना से उस को साक्षात् करते हुए प्रार्थना करो, जैसे तुम अपने इष्टदेव के सम्मुख खड़े उस के स्तोत्र पढ़ रहे हो, और वर ले रहे हो । इस प्रकार तुम्हारी स्तुति प्रार्थना उपासनासहित होगी, और उन में पूरा बल आ जायगा । स्तुति प्रार्थना और उपासना का यह मेल गायत्री मन्त्र में सुस्पष्ट दिखला दिया है—

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि । धियो योनः प्रचोदयात् (यजु० ३६ । ३)

वह प्रेरक देव जो पृथिवी अन्तरिक्ष और द्यौ को अपनी सत्ता से भर रहा है, उस के स्वीकार करने योग्य जाज्वल्यमान तेज का हम ध्यान धरते हैं, वह हमारी बुद्धियों का प्रेरक होवे।

कर्म और उपासना } वैदिक कर्मों—संस्कार और यज्ञ आदिकों के करते समय चित्त को परमात्मा में लगाए रखना चाहिये, इस से कर्म भी अधिक बल वाला बन जाता है, और चित्त पर भी प्रेम का रङ्ग चढ़ता है। इसी अभिप्राय से दोनों को मिलाप रखने का वेद में इस प्रकार उपदेश दिया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्या मुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उविद्यायाᳬ रताः (यजु० ४०। १२)

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया। इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे। १३।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयᳬसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। १४।

वे घुप अन्धेरे में फिर रहे हैं, जो कोरे कर्म में तत्पर हैं, और वे मानो उन से भी बढ़कर अन्धेरे में फिर रहे हैं, जो (कर्म हीन हो कर निरी) विद्या में रत हैं। १२।

क्योंकि ब्रह्मवादी जन विद्या से और ही फल कहते हैं, और अविद्या से और कहते हैं, ऐसा हमने उन धीर जनों से सुना है, जिन्हों ने हमें यह खोल कर बतलाया। १३। अतएव वह जो विद्या और अविद्या इस जोड़ी को साथी जानता है, वह विद्या से मृत्यु को तैर कर अविद्या से अमृत को प्राप्त होता है।

यहां विद्या से अभिप्राय उपासना से है, जिस में कि मनुष्य परमात्मा को अपने मन से साक्षात् दर्शन करता हुआ अनुभव करता है, और अविद्या से अभिप्राय विद्या से भिन्न कर्म है। ऐसा ध्यान रक्खो, कि तुम्हारा कर्म विद्या सहित हो, अग्निहोत्र करते समय ऐसे प्रेममग्न हो जाओ, कि जब तुम हाथ से अग्नि में आहुति डालते हो, उस समय तुम्हारे सामने जो अग्नि जल रही है, वह तुम्हें उस ज्योतियों के ज्योति से भासित हुई भासे। अर्थात् तुम हाथ से आहुति डालो, और तुम्हारा मन उस में उस परम ज्योति को देखे, जिस से यह अग्नि देदीप्यमान है। याद रक्खो इस प्रेममयी दृष्टि के बिना किया हुआ कर्म विद्या रहित है, उसी को यहां अविद्या कहा है, क्योंकि इस तरह कर्मी कर्म करते हुए भी अविद्या में रहते हैं। पर जब वह हाथ से कर्म करता हुआ मन को परमात्मा में जोड़ देता है, तब उस का कर्म विद्या-उपासना सहित हुआ पूरा फल देता है।

वैदिक उपासना — वेद संहिता में परमात्मा का वर्णन इस प्रकार है, जिस से मनुष्य इस विश्व की एक २ दिव्य शक्ति में उस की सत्ता को अनुभव करने लगे, जो २ दृश्य उस के सामने आता जाए, प्रत्येक में ईश्वर की सत्ता उस को साक्षात् होती रहे। तभी प्रत्येक कर्म उपासना सहित होता है। इस प्रकार मनुष्य के आत्मा पर परमात्मा के प्रेम का ऐसा दिव्य-रंग चढ़ता है, कि उसी प्रेम से उस का चित्त परमात्मा में एकाग्र हो कर उसे साक्षात् कर लेता है। इस प्रकार उपासना को छोड़ कर निरे चित्त निरोध का उपदेश वेद संहिता में नहीं

पाया जाता । योग में भी जहां चित्त निरोध के उपाय वैराग्य आदि बतलाए हैं, वहां विशेषता ईश्वर भक्ति को ही दी है-

ईश्वरप्रणिधानाद्वा (योग १ । २३)

अथवा ईश्वर की भक्ति में तत्पर होने से (समाधि बहुत ल्दी होती है)

तस्य वाचकः प्रणवः । २७ ।

उस का वाचक ओंकार है ।

तज्जपस्तदर्थभावनम् । २८ ।

उस (ओंकार) का जप और उस के अर्थ करना चाहिये ॥

यहां ओंकार उपलक्षण है, सारे वेद का स्वाध्याय और उस के अर्थ का चिन्तन ईश्वरप्रणिधान ही है । अतएव इस सूत्र के व्यासभाष्य में यह प्रमाण दिया है-

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्याय मामनेत । स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय से योग में बैठे (चित्त एकाग्र करे) योग स स्वाध्याय का अभ्यास करे स्वाध्याय और योग की सिद्धि से परमात्मा प्रकाशित होते हैं । स्वाध्या से आत्मा और परमात्मा दोनों का ही प्रकाश होता है, अतएव इस से अगला सूत्र है-

ततः प्रत्येक चेतनाधिगमोप्यन्तरायाभावश्च । २९ ।

इस से चेतन आत्मा का साक्षात् होता है, और विघ्नों का अभाव हो जाता है ।

उपासना का विस्तार } उपनिषदों में उपासना का जो वर्णन है, वह 'उपनिषदों की शिक्षा' में सविस्तर लिखा गया है, और योग में जैसा वर्णन है, वह योग दर्शन में लिखा गया है । वहीं से देख लेना चाहिये ।

ज्ञान काण्ड ।

ज्ञान का स्वरूप } आत्मा की पहचान का नाम ज्ञान है, अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप का साक्षात् दर्शन ।

ज्ञान का अधिकारी } इस ज्ञान का अधिकारी वह है, जिस का चित्त कर्म और उपासना से शुद्ध हो चुका है, और जिस के हृदय में आत्मदर्शन और परमात्म दर्शन के लिये व्याकुलता है—

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि । यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्या दिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः (ऋ १।१६४।३७)

मैं नहीं पहचानता हूं, 'जौनसी वस्तु मैं हूं' मैं जो एक रहस्य की वस्तु बना हुआ हूं, अब मन के साथ पूरा तय्यार

हो कर चल रहा हूं (इस रहस्य को पाये बिना नहीं ठहरूंगा)। जब ऋत (सृष्टि विज्ञान) का बड़ा भाई (आत्म विज्ञान) मुझे प्राप्त होगा, तभी मैं इस वाक् (वेद) का भाग (अपना पूरा हिस्सा) पाऊंगा * ।

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः । ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्तान्यन्यं चिक्युर्न निचिक्यु रन्यम् । ३८ ।

(अमर्त्य) अमर (आत्मा) इस (मर्त्य) मरने वाले (शरीर) के साथ रहता हुआ माया के वशीभूत हुआ नीचे और ऊपर जाता है (उच्च नीच योनियों में घूमता रहता है) वे दोनों (मर्त्य और अमर्त्य) साथ रहते हुए भी सदा भिन्न गति वाले रहते हैं † इन में से एक को लोग देखते हैं, दूसरे को नहीं देखते हैं।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि-विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते । ३९ ।

ऋचाएं सब उस अविनाशी परब्रह्म में हैं (=सारे वेदों का

---

* ऐश्वरी वाक् में सब का भाग है, पर जिस ने वेद को पाकर आत्मा को नहीं पहचाना, वह अपने पूरे भाग को नहीं ले सका।

† एक क्रियाशील है, दूसरा ज्ञानशील है। एक जड़ है, दूसरा चेतन है। एक विषयानन्द की ओर खींचता है, दूसरा परमानन्द की ओर उड़ता है।

परम तात्पर्य उस अविनाशी परब्रह्म के प्रतिपादन में है) जिस में सारे देवता आश्रय लिये हुए हैं । जो उस को नहीं जानता, वह ऋचा से क्या करेगा, जो उस को जानते हैं, वेही आनन्द में रहते हैं ।

उत स्वया तन्वा संवदे तत् कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि । किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम् (ऋ० ७ । ८६ । २)

कब वह समय आयेगा, जब मैं अपने आत्मा से वरुण के साथ संवाद करूंगा, कब मैं वरुण का अन्तरंग बनूंगा, कब वह प्रसन्न हो कर मेरी भेंट को स्वीकार करेगा, कब मैं प्रसन्न हुए मन के साथ उस सुखदाता के दर्शन करूंगा ।

ज्ञान प्राप्ति के लिए उद्योग } अश्मन्वती रीयते संरभध्व मुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः । अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभिवाजान् (ऋग् १० । ५३ । ८)

पत्थरों से भरी हुई (यह संसाररूपी नदी) वही चली जा रही है, (इस से पार उतरने के लिए) हे मित्रो कमर कसो, उठो और पार उतर कर ही दम लो, दुःखदायी जो बन्धन हैं, उन को यहीं छोड़ दो, और आओ हम मिलकर कल्याण दायक सच्चे बल (आत्मबल) के भरोसे से इस के पार उतर चलें ।

उपनिषद् में भी कहा है—उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबो-धत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गम्पथस्तत् कवयो वदन्ति (कठ ३।१४)

उठो, जागो और चुने हुए पुरुषों के पास पहुंच कर ज्ञान प्राप्त करो, छुरे की तीक्ष्ण धार पर चलना जैसे कठिन होता है, इसी प्रकार ज्ञानी लोग इस मार्ग को दुर्गम बतलाते हैं।

गुरु की शरण } ज्ञान प्राप्ति के लिये पहुंचे हुए गुरु की शरण लेना आवश्यक है, जो कि सीधे मार्ग से उस परब्रह्म तक जल्दी पहुंचादे।

त्वष्टा मायावेदप सामपस्तमो बिभ्रत् पात्रा देव-पानानि शंतमा। शिशीत नूनं परशुं स्वायसं येन वृश्चा दैतशो ब्रह्मणस्पतिः (ऋ० १०।५३।९)

वह छीलने वाला (बन्धनों के काटने वाला गुरु) जो गुह्य ज्ञानों को जानता है, जो कर्मशीलों के मध्य में सब से बढ़ कर कर्मशील है, जो सब से बढ़कर शान्ति देने वाले पात्रों को हाथ में रखता है, (सीधा मार्ग मानों उंगलि से दिखलाता है) जिन में से देवता (जिज्ञासु अमृत) पान करते हैं, वह निःसंदेह फौलादी कुल्हाड़े (शिष्य के बन्धन काटने वाले शस्त्र) को तीक्ष्ण करता है, जिस से वह रंगीला (जिस पर रंग चढ़ा हुआ है) श्रोत्रिय (शिष्य के बन्धनों को) काट देता है।

सतो नूनं कवयः संशिशीत वाशी भिर्याभिर

मृताय तक्षथ । विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः (ऋ० १०।५३।१०)

हे ज्ञानियो ! भले शिष्यों को उन शस्त्रियों से तीक्ष्ण करो, जिन से तुम स्वयं अमृत पाने के लिए छीलने का काम करते रहे हो । तुम रहस्यवेत्ता हो (अपने शिष्यों को) वे गुह्य स्थान बता दो, जिस से कि तुम्हारे जिज्ञासु अमृत को पा लें ।

उपनिषद् में भी आया है -

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । १२ ।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् । १३ । (मुण्डक १ । २)

उस के जानने के लिए वह एक ऐसे गुरु के पास जाए, जो वेद का जानने वाला और ब्रह्म में निष्ठा वाला है । १२ ।

अब गुरु उस शिष्य को, जो यथाविधि शरण में आया है, जिस का चित्त लौकिक कामनाओं से चञ्चल नहीं हो रहा और जो पूरी शान्ति से युक्त है, वह विद्वान् उस ब्रह्मविद्या का यथार्थ उपदेश दे, जिस से उस ने उस अविनाशी को जाना है ।

यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः (श्वेता ६।२३)

जिस की परमात्मा में परम भक्ति है; और जैसी परमात्मा

में है, वैसी गुरु में है, उस महात्मा को यह कही बातें प्रकाशती हैं।

परमात्मा के दर्शन का स्थान } परमात्मा के दर्शन का स्थान सारा ही विश्व है। उपासना के द्वारा जब हृदय उस के प्रेम से भर जाता है, तब सारा ही विश्व उस के दर्शन कराने लगता है। जैसा कि एक अनुभवी अपने अनुभव को इस प्रकार प्रकाशित करता है—

दर दीवारें दर्पण भये जित देखूं तित तोहे,

कांकर पाथर ठीकरी भेये आरसी मोहे।

वेद में जो प्रत्येक दिव्यशक्ति में उस के दर्शन कराये हैं, उस का आशय भी स्पष्ट यही है, जो कि मन्त्रों में ही साक्षात् स्पष्ट भी कर दिया है। जैसा कि (अथर्व. १३।४)

स वा अन्हो अजायत तस्मादहरजायत।२९। स वै रात्र्या अजायत तस्माद्रा त्रिरजायत।३०। स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत३१ स वै वायोरजायत तस्माद्वायुरजायत।३२। स वै दिवो ऽजायत तस्माद् द्यौरजायत।३३। स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद् दिशोऽजायन्त।३४।स वै भूमेरजायत तस्माद्भूमिरजायत।३५। स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत।३६। स वा अद्भ्यो ऽजायत तस्मादापोऽजायन्त।३७ स वा ऋग्भ्यो

ऽजायत तस्मादृचो ऽजायन्त । ३८ । स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत । ३९ । स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम् । ४० ।

'दिन उस का प्रकाशक है, क्योंकि वह दिन का जनक है । २९ । रात्रि उस की प्रकाशक है, क्योंकि वह रात्रि का जनक है । ३० । अन्तरिक्ष उस का प्रकाशक है, क्योंकि वह अन्तरिक्ष का जनक है । ३१ । वायु उस का प्रकाशक है, क्योंकि वह वायु का जनक है । ३२ । द्यौ उस का प्रकाशक है, क्योंकि वह द्यौ का जनक है । ३३ । दिशाएं उस की प्रकाशक हैं, क्योंकि वह दिशाओं का जनक है । ३४ । भूमि उस की प्रकाशक है, क्योंकि वह भूमि का जनक है । ३५ । अग्नि उस की प्रकाशक है, क्योंकि वह अग्नि का जनक है । ३६ । जल उस के प्रकाशक हैं, क्योंकि वह जलों का जनक है । ३७ । ऋचाएं उस की प्रकाशक हैं, क्योंकि वह ऋचाओं का जनक है । ३८ । यज्ञ उस का प्रकाशक है, क्योंकि वह यज्ञ का जनक है । ३९ । वह यज्ञ है, यज्ञ उस का है, वह यज्ञ का सूर्धा है ।

प्रजापतिश्चरतिगर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् हतस्थुर्भुवनानि विश्वा (यजु० ३१ । १९)

प्रजाओं का मालिक परमात्मा सब के बीच हो कर वर्तमान है, वह स्वरूप से अप्रकट हुआ अपने कार्यों द्वारा अनेक

प्रकार से प्रकट होरहा है । उसके स्वरूपको ज्ञानी को लोग देखते हैं, उस के सहारे पर सारे भुवन खड़े हैं ।

एषोह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वोह जातः स उ गर्भे अन्तः । स एवजातः स जनिष्यमानः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः (यजु० ३२।४)

यह देव सारे प्रदेशों के साथ २ वर्तमान है, वह सब से पहले प्रकट हुआ है, वह सब के मध्य में वर्तमान है, यह विश्व उसी का प्रकाशक रहा है, और उसी का प्रकाशक रहेगा, वह सर्वतोमुख हो कर सब के सामने वर्तमान रहता है (जहां चाहो उस के दर्शन करो)

तस्माद् विराडजायत विराजो अधिपूरुषः (ऋग् १० । ९० । ५)

उस से विराट् उत्पन्न हुआ, सो यह विराट् उस का प्रकाशक है ।

सो इस प्रकार उस के दर्शन पहले इस सारे विश्व में होने लगते हैं, सारी ही दिव्य शक्तियें हमारे देवता की दर्शिका बन जाती हैं । इस विश्व में विश्वपति के दर्शन होते हैं, इस अनात्म में आत्मा के दर्शन होते हैं, इस अल्प में भूमा के दर्शन होते हैं, इस निरानन्द में आनन्दमय के दर्शन होते हैं । साधक का हृदय प्रेम से भर जाता है, प्रेम में मग्न हो जाता है । तब आंखें बन्द हो जाती हैं, मन भी कल्पनाएं छोड़ कर निश्चल हो जाता है, मानसिक और ऐन्द्रियिक दृश्य सारे वहीं के वहीं थम जाते

हैं, उन के थमते ही आत्मा स्वयं प्रबुद्ध होता है, और इस प्रबुद्ध आत्मा से अपने अन्दर इस अन्तरात्मा के दर्शन पाता है; जिस को वह पहले विश्व के अन्दर विश्वपति के रूप में देख चुका है। वहां उसने मन से उस के शबलरूप को देखा है, यहां वह आत्मा से उस के शुद्ध स्वरूप को देखता है। इस से परे और कुछ देखने योग्य नहीं रहता। यही दर्शन दिव्य जीवन का परम लक्ष्य है। शास्त्र में इस का वर्णन इस प्रकार आया है—

वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहासद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं्ँ सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु (यजु० ३२। ८)

विज्ञानी परदे में वा (हृदय में) छिपी हुई उस सत्ता को प्रत्यक्ष देखता है, जो सारे विश्व का एक ही आधार है, यह सब (प्रलय काल में) उसी में लीन होता है, और (उसी से सृष्टि काल में) अलग २ होता है, वह व्यापक हो कर सारी प्रजाओं में ओत प्रोत हो रहा है।

प्रतद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहासत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिताऽसत् (यजु० ३२। ९)

एक गन्धर्व विद्वान् ही उस अमर सत्ता को बतला सकता है, जो परदे में (वा हृदय में) स्थित है। इस के तीन पद

परदे में स्थित हैं, जो उन को जानता है. वह पिता का पिता होता है ।

परमात्मा इस विश्व में रहते हुए भी विश्व से निराले हैं। उन का अपना स्वरूप इस विश्व से पृथक् है, और इस विश्व का अपना स्वरूप परमात्मा से पृथक् है । यह जो उस का न्यारा स्वरूप है, इस का हम साधारण अवस्था में दर्शन नहीं पा रहे हैं। यह उन का चौथा पद है, जो हम से सर्वथा गुप्त है। फिर यही जो अपने स्वरूप में न्यारा है, यही प्रकृति का अन्तर्यामी हो कर एकरूपा प्रकृति को नाना रूप धारने के लिए परिचालन करता है. इस रूप में अर्थात् प्रकृति के अधिष्ठाता के रूप में उस को अन्तर्यामी वा प्रयाति कहते हैं। इस स्वरूप का भी हम इस अवस्था में दर्शन नहीं पा रहे हैं, यह उन का तीसरा पद है, यह भी हम से सर्वथा गुप्त है। अब यह जो प्रकृति का अन्तर्यामी परिचालक है, यही इस प्रकृति को जब सूक्ष्म जगत् के रूप में ले आता है, तो यही फिर इस सूक्ष्म जगत् का अन्तर्यामी हो कर परिचालन करता है, इस रूप में अर्थात् सूक्ष्म जगत् के अधिष्ठाता के रूप में उस को हिरण्यगर्भ वा ब्रह्मा कहते हैं । इस स्वरूप का भी हम इस अवस्था में दर्शन नहीं पा रहे हैं. यह उस का दूसरा पद है. यह भी हम से सर्वथा गुप्त है। अब यह जो सूक्ष्म जगत् का परिचालक है, यही जब इस सूक्ष्म को वर्तमान स्थूल रूप में ले आता है, तो यह फिर इस विश्व का अन्तर्यामी हो कर इस का परिचालन करता है, इस रूप में अर्थात् स्थूल ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता के रूप में उस

को विराट् पुरुष कहते हैं। इस रूप में हम प्रेममयी दृष्टि से उस विश्व के अन्दर उस के साक्षात् दर्शन पाते रहते हैं। यह उस का पहला पद है, और यह परदे में नहीं, सब के सामने है। इस अभिप्राय से कहा है, तीन पद उस के परदे में हैं। जो इन तीन पदों को जान लेता है, वह सब का पूज्य हो जाता है। इन में से पहला पद जो हमारे सन्मुख है, उस के दर्शन हम पहले पाते हैं, फिर ज्यों २ हमारा चित्त सूक्ष्मदर्शी होता जाता हैं, त्यों २ हम दूसरे और तीसरे पद पर पहुंचते हैं। अन्ततः अपने आत्मा के जाग्रत होने से चौथे पद पर पहुंच कर परमात्मा के शुद्ध स्वरूप के दर्शन पाते हैं।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च । उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनाऽत्मान मभिसं विवेश (यजु० ३२ । ११)

वह जो, सारे भूतों को, सारे लोकों को, सारी दिशाओं और सारी विदिशाओं को घेर कर स्थित है, उस परमात्मा को साधक ऋत की बड़ी बहिन (वेदवाणी) के सेवन से अपने आत्मा से जानता है।

ब्रह्म के चौथे पद अर्थात् शुद्ध स्वरूप को पुरुष अपने आत्मा से ही देखता है, यह बात उपनिषद् में भी स्पष्ट रूप से दिखला दी है—

यदात्म तत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (श्वेता० उप० २ । १५)

फिर जब सावधान हो कर साधक आत्मतत्त्व से ब्रह्म तत्त्व को देखता है, तब वह उस अजन्मा कूटस्थ सारे तत्त्वों से निखरे हुए देव को जानकर सारी फांसों से छूट जाता है।

यह दर्शन बाह्य जगत् में नहीं, किन्तु अपने अन्दर हृदय में उपलब्ध होते हैं वहीं ये दर्शन मिलते हैं, जहां आत्मा और परमात्मा दोनों इकट्ठे रहते हैं। जैसा कि अथर्व १० [illegible] में है

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौ रुत्तरा हिता ।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ।२४।

किसने इस भूमि को स्थापित किया है, और किसने ऊपर द्यौ को स्थापन किया है, और किसने ऊपर और चारों ओर फैले हुए अन्तरिक्ष को स्थापन किया है

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौ रुत्तरा हिता ।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्त रिक्षं व्यचो हितम् ।२५।

ब्रह्म ने भूमि को स्थापन किया है, ब्रह्म ने ऊपर द्यौ को स्थापन किया है, ब्रह्म ने ऊपर और चारों ओर फैले हुए अन्त-रिक्ष को स्थापन किया है ।

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् । मस्तिष्का दूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ।२६।

अथर्वा (इस शरीर के शान्तिक पौष्टिक कर्मों का करने वाला आत्मा) इस (शरीर) के मूर्धा और हृदय को सी कर वह तेजस्वी स्वयं सिर में दिमाग में रुप से ऊपर बैठा हुआ प्रेरता है ।

तद्वा अथर्वणः शिरः देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ।२७।

यह जो अथर्वा का शिर है, यही एक ढका हुआ (न कि खुला) परमात्मा का कोश* है । इस सिर (दिमाग) की प्राण अन्न और मन रक्षा करते हैं ।

ऊर्ध्वोनु सृष्टास्तिर्यङ्नु सृष्टाः सर्वा दिशः पुरुष आबभूव । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते२८

वह ऊंचा बैठा हुआ पुरुष सीधी तिरछी सारी दिशाओं को घेरे हुए है । ब्रह्म के जो इस पुर (किले) को जानता है, जिससे वह पुरुष कहलाता है †

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् । तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ।२९।

और जो अमृत से लपेटे हुए इस ब्रह्मपुर को जानता है, उस को ब्रह्म और देवता दृष्टि जीवन और प्रजा देते हैं ।

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते । ३२ ।

---

* इस कोश का मुण्ड० उप० २ । २ । ९ में इस प्रकार वर्णन है 'हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः '=सब से ऊंचे सुनहरी कोश में अविद्या से परे निरवयव ब्रह्म है, वह चमकता हुआ ज्योतियों का ज्योति है, उस को वेही जानते हैं, जिन्हों ने अपने आत्मा को जान लिया है ।

† पुरि+शयः पुरुषः । पुरि=किले में, शयः=रहने वाला

उसको न नेत्र त्यागता है, न बुढापे से पहले प्राण त्यागता है, जो ब्रह्म के उस पुर को जानता है, जिस से यह पुरुष कहलाता है ।

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या । तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषाऽऽवृतः ।३१।

जिस के आठ चक्र और नौ द्वार हैं,* ऐसा जो देव पुर (देवताओं का किला) है, उस को जीतना दुष्कर है, उस में है सुनहरी कोश, वही चारों ओर ज्योति से घिरा हुआ स्वर्ग है ।

तस्मिन् हिरण्यये कोशेत्र्यरे त्रि प्रतिष्ठिते । तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ।३२।

वह सुनहरी कोश जिस के तीन अरे और तीन आधार हैं । उस में आत्मा के साथ पूज्य सत्ता है, उस को ब्रह्मवेत्ता ही पहचानते हैं ।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् । पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ।३३।

ऐसा पुर जो चारों ओर से ढपा हुआ है, सुनहरी है, जिस को कोई जीत नहीं सकता है, उस में वही प्रवेश करता है, जो पूरा वेदज्ञ है ।

---

* देव पुर शरीर, इस के नौ द्वारा सात सिर में के छेद और दो निचले । इस में सुनहरी कोश हृदय है देखो भगवद्गीता ५।१३

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरा वृतम्। तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः (अथर्व० १० ८। ४३)

नौ द्वारों वाला कमल जो तीन गुणों से लपेटा हुआ है, उस में जो आत्मा के साथ पूज्य सत्ता है, उस को वही जानते हैं, जो वेदज्ञ हैं।

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्यो रात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ ४४ ॥

वह कामनाओं से रहित है, धीर है, अमृत है, स्वयम्भू है, आनन्द में तृप्त है, किसी बात से ऊन नहीं है, उसी धीर अजर युवा आत्मा को जानकर पुरुष मृत्यु के भय से परे हो जाता है।

इस प्रकार परमात्मा के निज स्वरूप के दर्शन आत्मा को वहीं होते हैं, जहां आत्मा स्वयं रहता है, अर्थात शरीर के अन्दर मस्तिष्क में जो कि आत्मा के रहने का स्थान है। जब इस प्रकार उस को स्वरूप के दर्शन होते हैं। तब उस को दोनों रूपों के देखने में स्वतन्त्रता होती है। आत्मा से वह परमात्मा के स्वरूप के दर्शन करता है। और मन को कार्य में लगा कर मन के द्वारा वह इस जगत् में उस को विश्व का नियन्ता देखता है। परमात्मा को इस दूसरे रूप में जो शुद्ध मन से देखा जाता है, शबल कहते हैं, और पहले रूप में जो केवल आत्मा से देखा जाता है, शुद्ध कहते हैं। साधक पहले पहल इस विश्व के निय-

न्ता के रूप में अर्थात् शबल रूप में उस के दर्शन करता है, पछि उस के निखरे हुए स्वरूप अर्थात् शुद्ध स्वरूप के दर्शन करता है। दोनों ही दर्शन साधक के लिए आवश्यक हैं, और दोनों पूरे होने पर ही वह पूरा कृत कृत्य होता है। जैसा—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानु पश्यति। सर्व भूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति (यजु४०।६)

जब पुरुष सब भूतों को आत्मा में और सब भूतों में आत्मा को देखता है, तब उस के सब संशय कट जाते हैं।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवा भूद्विजनतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्व मनुपश्यतः।७।

और जिस काल में विवेकी को सब भूत आत्मा ही हो गए * उस काल में उस एकत्वदर्शी को क्या मोह और क्या शोक।

स पर्य गाच्छुक्रमकाय मव्रण मस्नाविरꣳशुद्ध मपाप विद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथा-तथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।८।

क्योंकि अब वह उस स्वरूप पर पहुंच गया है, जो शरीर से रहित, व्रण से रहित, नाड़ियों से रहित है, पाप से बींधा

---

* आत्मा से परमात्मा का स्वरूप देखने की अवस्था में सिवाय परमात्मा के और कुछ सामने नहीं रहता इस अभिप्राय में कहा है 'सब भूत आत्मा ही हो गए'

हुआ नहीं है, तेज से पूर्ण है, और शुद्ध है। वही सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सब पर शासन करने वाला स्वयम्भू है, जिस ने सदा के लिए अर्थों को ठीक २ विधान कर दिया है।

इस प्रकार द्विविध दर्शन का फल दिखला कर समुच्चय दर्शन में ही कृतकृत्यता दिखलाई है–

अन्धं तमः प्रविशन्ति ये ऽसम्भूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥९॥

वे गाढ़ अन्धेरे में प्रवेश करते हैं, जो असम्भूति को उपासते हैं, और वे उन से बढ़कर अन्धेरे में प्रवेश करते हैं, जो निरा सम्भूति में रत हैं*।

अन्यदेवाहुः सम्भवान्यदाहुरसम्भवात्। इति शुश्रम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

सम्भूति से और ही (फल) कहते हैं, और असम्भूति से और ही कहते हैं, ऐसा हम ने उन ज्ञानियों से सुना, जिन्हों ने हमें यह खोल कर बतलाया।

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृत मश्नुते ॥११॥

---

* सम्भूति=शुद्ध, असम्भूति=शवल। निरा शवल का दर्शी अन्धेरे में है, क्योंकि वह विविक्त स्वरूप को नहीं देखता है, और निरा शुद्ध में तत्पर इस लिए बढ़कर अन्धेरे में है, कि यह दर्शन जिस का वह अभिलाषी है– पहले ही नहीं मिल जाता, जब तक शुद्ध मन से शवल का साक्षात् न हो ले।

वह जो सम्भूति और असम्भूति इस जोड़े को एक साथ जानता है, वह असम्भूति से मृत्यु को तैर कर सम्भूति से अमृत को पाता है ।

उपनिषद् में भी इस द्विविध दर्शन के साहित्य को ऋषि अपने अनुभव द्वारा इस प्रकार दिखलाता है—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये अश्वइव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोक मभि संभवामीत्यभि संभवामीति (छान्दो० ८।१३।१

मैं शुद्ध से शबल को प्राप्त होता हूं, और शबल से शुद्ध को प्राप्त होता हूं । जैसे घोड़ा रोमों को झाड़ता है (रोमों से धूलि को झाड़ता है) वैसे पाप को झाड़ कर, चन्द्र की न्याई राहु (पृथिवी की छाया) के मुख से छूट कर, शरीर को झाड़ कर कृतार्थ हुआ मैं नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूं ।

मुक्ति } इस प्रकार परमात्मा के दर्शन पाकर ही पुरुष मुक्त होता है । विना आत्म दर्शन के मुक्ति नहीं होती है ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् । तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (यजु० ३० । १८)

मैं उस महान् पुरुष को जानता हूं, जो सूर्य की नाईं चमकता है, और अन्धकार (अविद्या) से परे है । उसी को जान कर पुरुष मृत्यु से पार होता है, परम शांति के लिए और कोई मार्ग नहीं है ॥ उपनिषद् में भी इसी बात की पुष्टि की है, जैसा कि-

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय (श्वेता० ६ । १५)

एक हंस (परम आत्मा) इस सारे भुवन के मध्य में है, वही प्रकाश स्वरूप मूल प्रकृति का अधिष्ठाता है, उसी को जान कर पुरुष मृत्यु से पार होता है, और कोई मार्ग परागति के लिए नहीं है ।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति (श्वेता० ६।२०)

जब लोग चर्म की नांई आकाश को भी लपेट सकेंगे, तब परमात्मा को जाने बिना दुःख का अन्त हो सकेगा ।

दिव्य जीवन का पारलौकिक फल ।

दिव्य जीवन का लौकिक फल तो दिखलाते आए हैं, सारांश यह, कि दिव्य जीवन से मनुष्य में इतना आत्मबल बढ़ जाता है, कि उस का आत्मा दुःख और शोक की पहुंच से ऊपर हो जाता है, उस के आत्मबल का प्रभाव दूसरों पर छा जाता है, उस का तेज दूसरों पर छा जाता है। अतएव वह अपने शिष्यों को बड़ी सुगमता से धर्मपथ पर डाल देता है । यह तो है दिव्य जीवन का लौकिक फल, अब दिव्य जीवन का जो पारलौकिक फल होता है, उस को दिखलाते हैं-

परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्था मनुपस्पशानम् । वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं

हविषा दुवस्य (ऋग्० १० । १४ । १)

वह जो दूर से दूर की भूमियों तक पहुंचा हुआ है, सब को अपने २ मार्ग पर डालता है (जैसी जिस की कमाई है, उस के अनुसार फल भोग के मार्ग पर डालता है) सब लोग जिस के पास जाते हैं, उस वैवस्वत यम राजा को हवि से पूजो ।

हरएक मनुष्य जब इस लोक से प्रस्थान करता है, तो वह यहां की कमाई को साथ लेकर ईश्वर के सामने उपस्थित होता है । तब परमात्मा उस को ऐसे मार्ग पर डालते हैं, जिस से वह अपने शुभ कर्मोंका शुभ फल और अशुभकर्मोंका अशुभ फल भोगता है।इस फल भोग के लिए परमात्मा के अधीन दूर से दूर भूमियां हैं, वह जहां भेजने में उस का कल्याण देखता है, वहीं भेजता है । इस प्रकार कर्मफलदाता के रूप में परमात्मा को राजा यम (नियम में रखने वाला, वश में रखने वाला) कहा है ।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरप भर्तवा उ । यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः ॥ २ ॥

यम ने हमारे लिए मार्ग पहले ही जाना हुआ है, यह मार्ग कभी भूल नहीं सकता, जिस मार्ग पर हमारे पूर्व पितर चले हैं, उसी मार्ग से अपने २ प्रति नियत फलों को सब पहचानेंगे ।

कर्मों के फल नियत हैं, वह उलट पलट नहीं हो सकते, तदनुसार ही पहलों ने फल भोगे, और तदनुसार पिछले भोगेंगे ।

अब ये गतियें जो मरने के पीछे प्राप्त होती हैं, अति नियत सूक्ष्म भेदों को लेकर तो असंख्यात हैं, तथापि मुख्य भेद दो हैं। सद्गति और असद्गति। असद्गति उन की होती है, जिन का जीवन दिव्य जीवन का विरोधी होता है। जैसा—

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे ।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् (अथर्व १२ । ४ । ३६)

गौ यम के राज्य में दाता की सारी कामनाओं को पूरा करती है, और उस के लिए नरक सम्बन्धी लोक होता है, जो (ब्राह्मण से) याचना की गई गौ के दिये जाने में रुकावट बन कर खड़ा होता है।

ये वशाया अदानाय वदन्ति परि रापिणः ।
इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आवृश्चन्ते अचित्त्या ॥४१॥

जो वकवादी गौ दान के विरुद्ध बतलाते हैं, वे मूर्ख अपने अज्ञान से अपने को इन्द्र के क्रोध का पात्र बनाते हैं।

ये गोपतिं पराणीयाथा हुर्माददा इति । रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्याचित्त्या ॥५२॥

जो गोपति को अलग करके उपदेश देते हैं, 'दान मत करो' वे अपने अज्ञान के कारण रुद्र के फैंके हुए शस्त्र की परिधि में अपने को डालते हैं।

यहां मन वचन कर्म से गोदान के विरुद्ध जाने का अनिष्ट

फल दिखलाया है, यह उपलक्षण है, जो मन वचन कर्मों द्वारा दूसरों को धर्ममार्ग से भटकाते हैं, वे पापी बनते हैं, और अनिष्ट फल भोगते हैं। नरक अधोगति का नाम है, जैसा कि निरुक्त में कहा है नरकं=न्यरकं नीचैर्गमनम्। अधोगति से अभिप्राय मनुष्य जन्म से निचले जन्मों में जाने से है। मनुष्य से निचले जन्म पशु पक्षी कीट पतंग और उद्भिद (ओषधि वनस्पति घास तृण) हैं। यह मार्ग भी उन के कल्याण के लिए होता है। इस मार्ग पर डाल कर यम उन के कुवासित अन्तःकरणों को शुद्ध करते हैं, और इस तरह मानुष जन्म के योग्य बना कर फिर मानुष जन्म देते हैं। इसी लिए कहा है—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठा शरीरैः (ऋग्० १०। १६। ३).

तेरा नेत्र सूर्य को प्राप्त हो, और प्राण वायु को, तू अपने धर्म के सङ्ग द्यौ की ओर वा पृथिवी की ओर जा, अथवा अन्तरिक्ष की ओर जा, यदि तेरी वहां भलाई है, अथवा भांति २ के शरीरों से भांति २ की ओषधियों में प्रतिष्ठित हो (यदि तेरी वहां भलाई है)।

इस में एक गति द्यौ की ओर, दूसरी भूमि की ओर, तीसरी अन्तरिक्ष की ओर, और चौथी पौधों में बतलाई है। उपनिषद् में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, कि विद्या सहित कर्मियों की गति द्यौ लोक की ओर होती है, केवल कर्मियों की अन्तरिक्ष की ओर, उत्तम लौकिक जीवन वालों की गति

भूमि की ओर मानुष जन्म धारने के लिए, और पापियों की गति पौधों की ओर होती है, पौधे उपलक्षण हैं सारी निचली गतियों का। भलाई कहने से यह बोधन किया है, कि हरएक गति का अन्तिम लक्ष्य उस की भलाई है।

सद्गति — दिव्य जीवन वालों की गतियां सद्गतियां कहलाती हैं। इन्हीं गतियों को स्वर्गलोक भी कहते हैं। पुण्य के तारतम्य से ये गतियें भी नाना हैं।

आरोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आरोहयामि। अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके (अथर्व० १८ ४।१)

हे अग्नियो! अपनी जननी की ओर चढ़ो,* मैं तुम को पितृयाणों (पितरों के मार्गों) से ऊपर चढ़ाता हूं। हे हव्य के ले जाने वालियो शीघ्रता से अपने हव्यों को ले चलो, और सावधान हो कर यज्ञ करने वाले को पुण्यात्माओं के लोक में स्थापन करो (इस मृत यजमान को वहां ले चलो, जहां पुण्यात्मा रहते हैं)।

देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि। ते भिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् ॥२॥

---

* यह मन्त्र अग्निहोत्री के दाह कर्म में विनियुक्त हैं। गार्हपत्य आहवनीय और दक्षिणाग्नि ये तीन अग्नियें हैं, जिन में वह होम करता रहा है। दाह कर्म में ये तीनों उस के साथ रखदी जाती हैं इन अग्नियों की माता द्यौ लोक है, जहां से ये आई हैं।

देवता, ऋतुएं (यज्ञों के अनुष्ठना के काल) हवि पुरो-डाश स्रुवे और यज्ञ के आयुध ये सब इस यज्ञ को समर्थ बनाते हैं। अब तू देवयान मार्गों से यात्रा कर, जिन से यज्ञ करने वाले स्वर्गलोक को जाते हैं।

ऋतस्य पन्थामनुपश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति। ते भिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि विश्रयस्व ॥३॥

सावधानता के साथ यज्ञ के मार्ग को देख ले, जिस से उपासक पुण्यत्मा यात्रा करते हैं। उन मार्गों से स्वर्ग की ओर यात्रा कर, जहां आदित्य (अदिति के पुत्र=सृष्टि नियमों पर चलने वाले) मधु (अपनी कमाई का मधुर फल) भक्षण करते हैं, तीसरे नाक में अपना घर बना।

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः। स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इष मूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥४॥

मेघ की सी गर्ज वाले तीन पक्षी ऊंचे स्वर्गलोक में रहते हैं*। स्वर्गलोक जो कि अमृत से भरे हुए हैं, यजमान के लिए अन्न और रस बहाते हैं।

यहां 'स्वर्गा लोकाः' बहु वचन देने से स्पष्ट है, कि पुण्यों के तारतम्य से पुण्य फल स्वर्ग=सुख विशेष में भी तारतम्य होता है।

---

* यह रहस्य रहस्य ही है।

यह तो है इष्ट कर्मों (वैदिक यज्ञों) का फल। इष्ट की न्याईं पूर्त कर्मों (वेदोक्त दानादि) का फल भी सद्गतियां हैं, जैसा कि पूर्व दिखला चुके हैं, और यहां भी संक्षेप से दिखलाते हैं-

एतं सधस्थाः परिवो ददामि यंशेवधिमा वहाज्जातवेदाः । अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तस्मै जानीत परमे व्योमन् (अथर्व० ६।१२३।१)

हे विश्व की शक्तियो ! यह मैं तुम्हारे अर्पण करता हूं, जिस निधि (हुतद्रव्य) को अग्नि तुम्हारे पास लाता है, यजमान कल्याणपूर्वक पीछे आएगा, उस को उच्च आकाश में स्वीकार करो (उस के लिए सुखप्रद बनो)।

जानीतस्मैनं परमेव्योमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र । अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्मकृणुताविरस्मै ॥२॥

उच्च आकाश में इस को स्वीकार करो, हे मिलकर रहने वाले देवताओ यहां इस का स्थान जानो । यजमान कल्याण पूर्वक पीछे आएगा, इस के लिए इष्ट और पूर्त (के फल) को प्रकट करो ।

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मायूषम् ४

मैं जो सब के लिए पकाता हूं, देता हूं, और यजन करता हूं, मैं इस दान से कभी अलग न होऊं ।

नाके राजन् प्रतिष्ठत तत्रैतत् प्रतिष्ठतु । विद्धि पूर्तस्य नो राजन् स देव सुमना भव ॥५॥

स्वर्ग में हे राजन् प्रतिष्ठित हो, वहां यह (हमारी कमाई) प्रतिष्ठित हो, हे राजन् हमारे पूर्त को स्वीकार करो, हे देव हमारे ऊपर कृपालु हो ।

एतत्त्वा वासः प्रथमंन्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा । इष्टा पूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु (अथर्व० १८ । २ । ५७)

यह पहला चोला (जीर्ण शरीर) जो तूने प्राप्त किया है, इस को परे फैंक दे, जो तूने इस से पूर्व पहना हुआ था, अब तू अपने इष्ट और पूर्त को जानता हुआ उस के साथ ऊपर चढ़, जहां तुझे वह मिलेगा, जो तूने बार २ असहायों को सहायता दी है

संगच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् हित्वायाऽवद्यं पुनरस्तमेहि संगच्छतां तन्वा सुवर्चाः (अथर्व १८ । ३ । ५८)

उच्च आकाश में पितरों के साथ संगत हो, यम के साथ संगत हो, और अपने इष्ट और पूर्त के साथ संगत हो । बुराई को छोड़ कर फिर इस लोक में आ, तेजस्वी हो कर शरीर के साथ संगत हो॥ इस प्रकार पूर्त कर्मों का फल भी सद्गतियां हैं ।

(परलोक में जाने वाला दिव्य शरीर) अब इन गतियों में जाने वाला कौन है ? शरीर तो यहीं भस्मीभूत हो जाता है । वह क्या बच रहता है, जो परलोक में जाता है, इस का उत्तर यह है ।

मैनमग्ने विदहो माभिशोचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् । यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः (ऋग्० १० । १६ । १)

हे अग्ने इस को मत जलाडाल; मत संतप्त करें, न इस की त्वचा को फैंक, न इस के शरीर को, किन्तु हे अग्ने जब इस को तू परिपक्व बनादे, तब इस को पितरों की ओर भेज दे।

यह वचन स्पष्ट बोधन करता है, कि भस्मीभूत होते हुए शरीर में कोई ऐसा शरीर भी है, जो भस्म नहीं होता, उसी को सूक्ष्म शरीर कहते हैं।

शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं परिदत्तात् पितृभ्यः। यदा गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति ॥२॥

हे जातवेदस् जब इस को परिपक्व बना दो, तब इसे पितरों को सौंप दो। जब यह असुनीति* को प्राप्त होता है, तभी देवताओं का वशवर्ती होता है।

अजो भागस्तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः। यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहेनं सुकृतामु लोकम् ॥४॥

जन्म रहित जो भाग है (सूक्ष्म शरीर और आत्मा) उस को अपने तप से तप्त कर (शोधन कर, संस्कार कर) उस को तेरी ज्वाला तप्त करे, उस को तेरी चिंगारी तप्त करे। हे जातवेदः! तेरे जो कल्याणमय अवयव हैं, उनके द्वारा इसको पुण्यात्माओं के लोक में लेजा।

यहां अज भाग कहने से यह बोधन किया है, कि बाह्य शरीर जो रज वीर्य के संयोग से उत्पन्न हुआ है, वह अवश्य

---

* असुनीति=प्राणों का नेता। इन्द्रिय शक्तियें प्राण हैं। तैजस इन्द्रियशक्तियों को बचा कर लेजाने वाली शक्ति। यह शक्ति जब इन्द्रियों समेत तैजस शरीर को बाहर ले आती है, तब आगे फल भोग के लिये दिव्य शक्तियें उस को संभाल लेती हैं।

भस्म हो जाता है, किन्तु इस शरीर में एक जन्म रहित भाग भी है, वही सूक्ष्म शरीर है, वही आत्मा के साथ जाता है। और अजभाग का संस्कार कहने से यह भी बोधन किया है, कि दाह कर्म सूक्ष्म शरीर को उन बन्धनों से मुक्त भी करता है, जो कि उस को स्थूल शरीर के साथ विना दाह के चिरकाल तक जकड़े रखते हैं।

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधाभिः। आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा जातवेदः ॥५॥

हे अग्ने यह जो तेरे समर्पण किया हुआ अपनी निज शक्तियों के साथ चलने लगा है, इस को अब पितरों की ओर मेरो, हे जातवेदः यह जो तेरे दाह से बचा हुआ है, यह नए जीवन को पहन कर शरीर के साथ संगत हो।

आरभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते। शरीरमस्य संदहाथैनं धेहि सुकृतामुलोके (अथर्व१८।३।७१

हे जातवेदः! अपना काम आरम्भ करो। तेरी ज्वाला तेज से भरपूर हो, इसके शरीर को जला डाल, और इस को पुण्यात्माओं के लोक में स्थापन कर।

इस प्रकार स्थूल शरीर का अग्नि में दाह, और सूक्ष्म शरीर का लोकान्तर में जाना स्पष्ट दिखलाया है। और जो वैदिक यज्ञों का यथा विधि अनुष्ठान करते रहे हैं, उन को तो वे संस्कृत अग्नियें जिन में वे होम करते रहे हैं, और अब जो उन के साथ रखदी गई हैं, उन के संस्कृत सूक्ष्म शरीर को स्वर्ग की ओर उठा ले चलती हैं, और उन को अपना ज्योतिष्मान् मार्ग स्वयं प्रतिभात हो जाता है—

यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजान मभिलोकं स्वर्गम्। अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः स धमादं मदन्ति (अथर्व १८।४।१०)

हे अग्नियो ! तुम अपने पूरे कल्याणमय रूपों से इस यजमान को स्वर्ग लोक की ओर ले चलो, पीठ पर उठाने वाले अश्व बन कर उठा ले चलो, जहां देवताओं के साथ यजमान आनन्द मनाते हैं।

ईजानश्चित्त मारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिव मुत्पतिष्यन्। तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान् स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः (अथर्व१८।४।१४)

यजमान जो कि चिने हुए अग्नि पर चढ़ा है, वह जब नाक के पृष्ठ में से द्यौ की ओर उड़ने को तय्यार होता है, तब उस पुण्यात्मा को आकाश से वह ज्योतिष्मान् मार्ग प्रतीत होता है, जिस पर देवता चलते हैं।

उपनिषदों में बड़े विस्तार के साथ इन गतियों का वर्णन किया है। वह उपनिषदों की शिक्षा में दिया जा चुका है, इस लिए यहां नहीं लिखा है।

अब इन गतियों से भी ऊंची गति मोक्ष है। मोक्ष में आत्मा सर्वथा स्वतन्त्र होता है। और परम आनन्द का उपभोग करता है।

सनो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानिवेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवा अमृत मानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त (यजु०३२।१०)

वह हमारा बन्धु है, पिता है, विधाता है, वह सब भुवनों और सब स्थानों को जानता है, जिस में देव (मुक्तात्मा) तीसरे धाम में अमृत का उपभोग करते हुए स्वतन्त्र विचरते हैं।

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्रमा ममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव (ऋग्० ९।११३।९)

जहां द्यौ के तीनों सुखमय चमकते हुए स्थानों में स्वच्छन्द विचरना होता है, जहां लोक ज्योति से पूर्ण हैं, वहां मुझे अमर जीवन दे, हे सोम इन्द्र के लिए वह।

यत्र कामा निकामश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्। स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रा येन्दो परिस्रव

जहां कामनाएं (पूर्ण हो जाती) हैं, जहां कामनाएं बनी नहीं रहतीं, जहां (जगत् की) जड़ का स्थान है, जहां अपनी पूरी शक्ति प्रकाशित होती है, जहां सदा तृप्ति रहती है, वहां मुझे अमर जीवन दे, हे सोम इन्द्र के लिए वह।

यत्रानन्दाश्च मोदाश्चमुदः प्रमुद आसते। कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव

जहां आनन्द, मोद, प्रमोद बने रहते हैं, जहां मन की सारी कामनाएं पूरी होती हैं, वहां मुझे अमृत बना, हे सोम इन्द्र के लिए वह।

यह मुक्ति आत्मा की अवस्था विशेष है। यही मुक्ति का सच्चा वर्णन है, यही मानुष जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

* समाप्तोऽयं ग्रन्थः *